पुनर्मिलन

लेखक

श्री रामानन्द शर्मा

प्रकाशक

कन्याकुमारी प्रकाशन

मद्रास : : दुमका

जिसने

अपने सरल सहवास से

मेरे उजड़े उपवन को हरा-भरा कर दिया है,

उस सार्थक-नामा जीवन-संगिनी श्रद्धादेवी को

यह 'पुनर्मिलन'

सप्रेम

—रामानंद

भूमिका

साहित्य का सम्बन्ध सौन्दर्य से है, चरित्र-चित्रण से है, जीवन की समालोचना से है। सौन्दर्य में भाव और भाषा है, चरित्र-चित्रण में मनुष्य की कृतियों और विचार-धारा का विश्लेषण है। जीवन की समालोचना में सत्य की ओर निर्देश है। जिस रचना में इन तीनों उपादानों का सम्मिश्रण पाया जाता है, उसका स्थान बहुत ऊँचा होता है, वह रचना अमर होती है, और उसके जीते-जागते प्रकाश में तृषित आत्मा एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति करती है।

यह रुचिर रचना, जो हमारे पाठकों के सामने है, एक विचारणीय वस्तु है। यह तोता-मैना का किस्सा नहीं, इसके कथानक में तिलस्मी नवीनता नहीं, पर भावों में वैचित्र्य अवश्य है। इसमें स्त्री-पुरुष का प्रसंग होते हुए भी कामोद्दीपन की चेष्टा नहीं; प्रेम से ओत-प्रोत होते हुए भी संयम की प्रधानता है।

आप कह सकते हैं कि इसका कोई भी पुरुष-पात्र नहीं, जो नायक हो सकता हो; सुब्रह्मण्यम् एक कायर, क्षुद्र-धी, विचारहीन व्यक्ति है। वह देख नही सकता, वह कुछ कर नहीं सकता। अपने सीधेपन से गोपाल की चालों का शिकार हो जाता है। और यही सब दुःखों की जड़ है। आंजनेय संन्यासी हो जाता है, सत्य के जलते प्रकाश को देख लेता है, और गीता का अनुयायी होकर परोपकार में ही अपना जीवन लगाता है।

पर, एक बात अनुशीलन योग्य है, कि क्या सुब्रह्मण्यम्-सा कायर एक सती के पाणि-ग्रहण का अधिकारी हो सकता है? क्या आंजनेय-सा

काम-लोलुप संसार को तिलांजलि देकर सच्चा संन्यासी हो सकता है ? यदि हम इन बातों पर विचार करते हैं, तो पता लगता है, कि लेखक ने कितनी गम्भीरता और विवेक-बुद्धि से काम लिया है। यदि स्त्रियाँ "शक्ति" कही गई हैं, तो वास्तव में वे शक्ति हुआ करती हैं। ऐसी 'शक्ति' हमारी नायिका लक्ष्मी भी है। इसमें प्रेम का पारावार है, सत्य की ऐसी लगन है, ध्रुव-निष्ठा का वह तेज है, कि जिससे बुरा-से-बुरा व्यक्ति भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। जैसे पारस लोहे को सोना कर देता है, अग्नि काले कोयले को दीप्तिमान कर देती है, उसी प्रकार लक्ष्मी के अटल प्रेम और संयम के सामने सुब्रह्मण्यम् झुक जाता है; उसकी कायरता चली जाती है; उसमें ज्ञान का उदय होता है, और वह अपने को उसकी सेवा में लगा देता है। यह लक्ष्मी के ही प्रखर तेज का फल है, कि आंजनेय की कामुकता जलकर भस्म हो जाती है, और वह एक सच्चा विरागी हो जाता है।

सुतरां, लक्ष्मी की प्रखर दीप्ति के सामने इस रचना के जितने पात्र हैं, सभी मलिन हो जाते हैं। लेकिन आप कह सकते हैं कि लक्ष्मी सतेज हो सकती है, ज्योति-राशि हो सकती है, पर क्या वह आनन्द-प्रसारिणी पत्नी हो सकती है ? क्या वह प्रेम-विह्वला माँ हो सकती है ?

लेखक की कला कितनी सजीव हो उठती है, जब वह लक्ष्मी को किसी आदर्श-संसार की योगिनी न बनाकर उसे मधुर, सुकुमार ललना बना देता है, उसे भाव-प्रवणा माँ बना देता है, स्नेह-शीला पुत्री बना देता है। किस प्रकार वह बिछुड़े हुए पति के आक्रोश... में जाकर 'रामू' को उठा छाती से लगा लेती है, और अपने पिता की सेवा में लीन हो जाती है, ये सभी घटनाएँ उन्हीं बातों की द्योतक हैं। सुतरां, चरित्र-चित्रण के दृष्टि-बिन्दु से इस रचना में अभाव नहीं प्रतीत होता।

जब हम सौन्दर्य की ओर जाते हैं, तो पता चलता है कि लेखक का रोम-रोम किसी गूढ़ वेदना से व्यग्र है। आप कहेंगे—सौन्दर्य में वेदना

कैसी ? लेकिन प्रिय पाठक, सौन्दर्य में जो वेदना है, उसके सामने विश्व का कोई आनन्द ही नहीं। कविवर शेली ने भी कहा है:—

"Our sincerest laughter,
With some pain is frought.
Our sweetest songs are those that tell of saddest thought."

कीट्स ने भी शोक (melancholy) के विषय में कहा :—

"In the temple of Delight, is her Sovereign Shrine."

पर, यह दर्द साधारण दर्द नहीं, यह प्रेम-योगियों की एक कसक है, अनन्त से मिलने की एक चाह है। यहाँ भी हम देखते हैं कि सुब्रह्मण्यम् प्रेम से आकुल है, आंजनेय प्रेम से भस्म हो रहा है। लक्ष्मी व्यथित है। जब इन सुन्दर भावों की धारा विकल होकर कलकल करने लगती है और बीच-बीच मे कोयल की 'कूक' सुन पडती है, पपीहो की 'पी-पी' गुंजरित हो उठती है, तो हृदय आनन्द-विह्वल हो उठता है, और हम इस संसार को भूलकर सौन्दर्य के कल्पना-संसार में विहरने लगते हैं। प्रकृति और संसार का कैसा अद्भुत सम्मिश्रण है ! भावों और दृश्यों का कैसा आश्चर्यमय संगम है !!

इसकी भाषा का तो कहना ही क्या, शब्द-शब्द में, वाक्य-वाक्य में संगीत है; कहीं-कहीं तो पन्ना-का-पन्ना चित्रशाला बन गया है।

लेकिन इसमें चरित्र-चित्रण ही नही, सौन्दर्य ही नहीं, समालोचना भी यथेष्ट है। यदि हम इसके जीवन की कठिन समस्याओं के वाद-विवाद को छोड़ भी दें; तो भी लक्ष्मी तथा सरस्वती के जीवन से हमें बहुत-कुछ पता चलता है। आज-कल जो कहा करते हैं कि शिक्षिता स्त्रियाँ कुछ व्यभिचारिणी हो जाया करती है, वे लक्ष्मी से सीखें, उसके आचरण को देखें। गोपाल इसी प्रचलित दन्त-कथा का आश्रय लेकर सब

दुःखों का मूल बन जाता है। पर वास्तविकता क्या है, यह लक्ष्मी के जीवन से स्पष्ट है। किसी दूसरे से हँस-बोल लेना व्यभिचार नहीं, स्नेहशील व्यवहार कुमार्ग नहीं, ये शिक्षा के फल हैं।

अतएव इन बातों से ज्ञात होता है, कि विचारशीलों के लिए इस पुस्तक में काफी सामग्री है।···

—प्रोफेसर श्री विश्वमोहन कुमार सिंह,
एम० ए०, बी० एल०, पटना :

दो शब्द

मेरा जन्म मिथिला में हुआ; किन्तु—जैसे महिमामयी मैथिली को अपने जीवन-यौवन के हास-अश्रु का मोल दक्षिण के दण्डकारण्य में जाकर मालूम हो सका—मैंने भी कृष्णा, कावेरी, गोदावरी और तुंगभद्रा की रस-भूमि के तीर्थोज्ज्वल रजकण में लोटकर जीवन के कुछ कण चुनने का प्रयास 'पुनर्मिलन' में किया है। उन कणों का यथार्थ मूल्यांकन तो मर्मज्ञ-मानस ही कर सकते हैं; फिर भी यह 'चतुर्थ' संस्करण उसकी वर्धमान लोक-प्रियता को पुष्ट करता जान पड़ता है।

'पुनर्मिलन' की प्रथम आवृत्ति कदाचित् तत्कालीन अंगरेजी राज्य के दुर्दम दण्डधरों को अधिक लुभावनी जान पड़ी; और, लाठियों के बलपर, वे मेरी कुटिया (चित्तरंजन आश्रम) में घुस आए, और मेरी अनुपस्थिति में ही उसकी सारी प्रतियाँ जाने कहाँ उठा ले गए! हम लोग उस समय सरकार के मेहमान थे—जेल से लौटने पर भी 'पुनर्मिलन' के पुनर्दर्शन हमे न हो सके। दूसरी बार पुस्तक मद्रास में छपी, और 'आन्ध्र विश्वविद्यालय' को जँच गई; और 'पुनर्मिलन' उसके बी० ए० के कोर्स में स्थान पा गया। तीसरी आवृत्ति बिहार वापस आने पर हुई; और, विशाल बरगद की भाँति दक्षिण में सर्वत्र व्याप्त 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास' को पसन्द पड़ गई; और, 'पुनर्मिलन' उसके 'विशारद' के पाठ्य-क्रम में पहुँच गया।

उक्त संस्थाओं के मनस्वी कर्णधारों के प्रति मैं श्रद्धा-सिक्त कृतज्ञता अर्पित करता हूँ; और उत्सुक मन से आशा करता हूँ, कि, आन्तरिक एकता के लिए व्यग्र बने देश के अन्यान्य विश्वविद्यालयों, शिक्षण संस्थाओं, तथा हिन्दी-प्रचार करने वाले समिति-सम्मेलनों का भी ध्यान 'पुनर्मिलन' की ओर आकृष्ट होगा।

साथ ही जिन रस-मर्मज्ञों ने (मेरे सौभाग्य से जिनकी संख्या सचमुच 'न-गण्य' है) अपनी सम्मति तथा समीक्षा में जहाँ-कहीं इस पुस्तक को 'गंगा-कावेरी सङ्गम' कहा है, जहाँ-कहीं दक्षिण की संस्कृति के आधार पर हिन्दी में रचना करने वालों के लिए इस पुस्तक को 'मार्ग-दर्शिका' माना है; जिनकी विमल दृष्टि में 'पुनर्मिलन'—'दक्षिण की आत्मा को पकड़ने का प्रयास है' तथा जिन्हें यह 'उत्तर के द्वारा दक्षिण के पवित्र अभिनन्दन का प्रमाण' जान पड़ता है; और जिन दूर-दर्शियों को इस पुस्तक में—'हम हर प्रान्त की आत्मा को अपने साहित्य में उतार कर ही राष्ट्र-भाषा हिन्दी को सम्पन्न कर सकते हैं'—ऐसे संकेत मिल जाते हैं, दरअसल वे 'मेरे' मन की बात कहते हैं; और दूसरे शुभ-चिन्तक 'अपने' मन की बात कहकर मुझमें जीवन-प्रद प्रेरणा भरते हैं, और मेरा उत्साह बढ़ाते हैं।

वास्तव में मेरी मान्यता है, कि 'आसेतु हिमाचल' की एकता में 'सीता' और 'सेतु' का चोली-दामन-सा सम्बन्ध है—'सीता' नारी के जाज्वल्यमान सतीत्व और उसके सम्भ्रम-सम्मान की प्रदीप्त शिखा है, तो 'सेतु' उसके उद्धार-मार्ग का प्रचण्ड प्रतीक—जिसके निर्माण में, और जिस पर संचालित विजय-अभियान में पूर्णतया दक्षिण के मनस्वी मानवों का ही हाथ था।

स्वर्ग-लोभी हम लोग अपने तीर्थों का दर्शन अब तक प्रायः ऊँघते मन से ही करते आए हैं; आवश्यकता है साहित्य-सुषमा के सुखद स्पर्श से चेतनाराजि को चौंकाकर—उसे कुछ गुदगुदाकर—हर्षोन्मिल दृष्टि से देखने की; तभी उत्तर-दक्षिण के हृदय-निकुंज में कोकिला की कूक गुंजित होगी, तभी उसका कुण्ठित हृदय-कमल स्वर्णिम प्रभात में खिल सकेगा, तभी वह दूध-चीनी की तरह घुल-मिलकर अन्तर से एक हो सकेगा।

सच पूछा जाए, तो उत्तर-दक्षिण अनादि काल से एक-दूसरे के चिर-ऋणी रहते आए हैं। उत्तर के अद्भुत अग्रदूत अगस्त्य और परशुराम

की तरह दक्षिण के महान् शंकर, रामानुज और वल्लभ ने ही अपने चिन्तन-मनन के द्वारा भारत के मन-मस्तिष्क को ज्ञान और भक्ति के मर्म-मधुर रस के प्लावन से पुष्ट कर दिया है। साहित्य के बल पर ही 'आसेतु हिमाचल' के मृदुल-मंजुल मानस में 'एक राष्ट्र' की कल्पना पनपी और पुष्ट हुई; और आगे भी साहित्य-सर्जना की शक्ति ही उसे 'एक राष्ट्र' बनाए रख सकेगी। साहित्य की सरसी में ही हम अपने देश की एकता की वह हृदय-हारी तस्वीर देख पाएँगे—अन्यत्र नहीं।

यह 'पुनर्मिलन' एकता के उस पुनीत पथ पर 'जुगनू की चमक' मात्र है—उसी का गर्व वह कर सकता है। जरूरत है उस पथ पर 'आलोक-स्तम्भ' खड़ा करने की। उत्तर-दक्षिण के मेधा-प्रतिभावान साहित्य-स्रष्टा अब इसका शुभ संकल्प कर रहे हैं—यह हर्ष की बात है।

'पुनर्मिलन' के प्रचार-प्रसार में जिन सुहृद्जनों ने अपना सक्रिय सहयोग देकर मेरा अर्थ-भार कुछ हलका किया है, उन सभी उदार-चेता सहयोगियों का मेरा मुग्ध हृदय चिर-कृतज्ञ बना रहेगा; क्योंकि आज एक 'अर्थ' में ही सभी 'भावार्थ' अस्त होते जा रहे हैं!

विद्यार्थियों की दृष्टि से, इस संस्करण में, यत्र-तत्र कुछ हेर-फेर कर दिए गए हैं और प्रथम संस्करण वाली सार-गर्भित भूमिका भी अपरिवर्त्तित रूप में जोड़ दी गई है। उक्त भूमिका के विद्वान् लेखक उस समय पटना कालेज में अँगरेजी के उदीयमान प्रोफेसर थे; आगे चलकर वे बिहार विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार हुए, और आजकल विश्व-मोहन बाबू 'बिहार पब्लिक सर्विस कमीशन' के सुधी सदस्य हैं। उन्होंने, मेरे निवेदन करने पर भी, उसमें कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता न समझी।

हिन्दी-जगत् के महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन, महाकवि 'दिनकर', स्व० डा० अनुग्रह नारायण सिंह, श्री सत्यनारायण सिंह, आचार्य बदरीनाथ वर्मा, प्रो० विश्वमोहन कुमार सिंह, आचार्य शिवपूजन

सहाय, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, स्व० नलिन विलोचन शर्मा, आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री, पं० छविनाथ पाण्डेय, आचार्य रामशरण उपाध्याय, प्राचार्य जनार्दनप्रसाद झा, प्राचार्य सी० एन-शर्मा, श्री एस० आर० शास्त्री, प्रो० ए० सी० कामाक्षिराव, प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव, प्रो० डा० माहेश्वरीसिंह महेश, प्रो० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, श्री जेठालाल जोशी; प्रो० राममूर्तिरेणु, प्रो० अनन्तगोपाल शेवडे, श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह, श्री गंगाशरणसिंह, श्री उमाप्रसादसिंह, श्री आर० शारंगपाणि, श्री ओम् प्रकाश कपूर, श्री अनसूयाप्रसाद पाठक, श्री लालजीसहाय, श्रीमती भवानीदेवी—आदि सहृदय सुहृद् एवं विद्वद्वरों के प्रति मैं विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने अपनी सम्मति, समीक्षा तथा सहयोग देकर मुझे उपकृत किया है।

इस प्रसंग में 'ज्ञानमण्डल प्रेस' के सौजन्यपूर्ण उदार सहयोग को भी मैं नहीं भूल सकता, जिसके बल पर ही यह पुस्तक इतनी शीघ्रता से, इस रूप में, निकल सकी है।

—लेखक

पुनर्मिलन

मेघाच्छन्न चन्द्रमा

खेल-कूद के बीच, अंग्रेजी की ऊँची-से-ऊँची परीक्षा में सफल होकर, लवंग-लतिका-सी, लक्ष्मीदेवी ने जब जीवन के धुँधले परीक्षा-भवन में प्रवेश किया—जब वह नत-नयना देवी, अपने मचलते-मुसकुराते तन-मन को एक दिव्य संकल्प-जाल में जकड़े, अपने पति का घर बसाने, ससुराल आई;

तब—

तब, उदासीन भाव से खड़े कुछ ताड़ और इमली के पेड़ों के बीच, कमर पकड़कर बैठे हुए-से अपने श्री-हीन घर-बार को देखकर, उसके बड़े-बड़े स्निग्ध नेत्र सहसा कुछ संकुचित हो गए और वह कुछ चौंक भी उठी—जैसे किसी के पाँव अचानक भूभुर पर पड़ जाएँ !

नई रोशनी की सर्वोच्च शिक्षा पाने पर भी उस सुलोचना नारी की रक्त-मज्जा में सीता-सावित्री वाला अति-प्राचीन संस्कार गहराई से जड़ी-भूत था। इतना ही नहीं, बल्कि उस परम्परा के प्रति एक गहन गर्वानुभूति भी चतुर्दिक् से उसे घेरे रहती थी।

यही कारण था, कि वह अपने घर-बाहर एक विस्मय की वस्तु बन गई थी।

सुब्रह्मण्यम्—उसका मन्त्र-पूत पति—एक साधारण स्थिति का गृहस्थ था। उसके ऊपर न सर्वदोपापहारिणी किसी उल्लू-वाहना देवी की विशेष कृपा-दृष्टि थी, न पद-प्रतिष्ठा देने वाली कोई उपाधि थी, और न रूप-रंग के वितरण में ही विधाता ने उसके साथ कोई न्याय किया था। अर्थात्—एक नयनाभिरामा नारी को अनुरक्त करने वाला कोई आकर्षण उस पुरुष के पास न था, वैसा कोई वरदान वह भगवान् के घर से नहीं लाया था, और न वैसा कोई कौशल ही उसे हासिल था।

फिर भी अपने समाज में आज वह भाग्यशाली ही नहीं, ईर्ष्या का भी पात्र हो रहा था; क्योंकि लक्ष्मी-सी रूप-गुण-गर्विता देवी, एक अद्भुत दर्प के साथ, आ गई थी उसके घर में दीपक-सी जलने! कैसी निराली थी स्वप्न और जागरण की यह आँख-मिचौनी एवं अनुरक्ति और विरक्ति की यह कन्दुक-क्रीड़ा!!

देखना है—भाग्य और दर्प का यह विचित्र गँठ-बन्धन, अब क्या-क्या गुल खिलाता है।

मनहूस मुहाने की पतली रीढ़ से टकराती, अपनी शिथिल आयु-सरि के किनारे, शंका और संकोच से खड़ी हुई, लक्ष्मी की सास ने कुछ दिनतक तो अपनी उस नवागन्तुक बहूरानी को हाथों-हाथ रखा—उसे न अपने आँगन के औंधे-मुँह वाले कुएँ से पानी भरने दिया, न उसे घर के कपड़े छाँटने दिए, और न

उस धूम-धुन्ध वाले अपने रसोई-घर में ही उसे घुसने दिया।

लेकिन जब वह उदार-मना बूढ़ी, उस नई-नवेली को, अत्यन्त आवश्यक गरम पानी वाला स्नान-घर, साधारण आँवले का तेल, मामूली संदल-साबुन, एक सस्ता आदम-कद आईना न दिखा सकी; तब गद्देदार कुर्सियाँ, रोजवुड की मेज, गोदरेज की आलमारियाँ, स्नो-पाउडर—आदि वह कहाँ से लाकर देती? फिर मोटे-मोटे उपन्यास, आकाश-वाणी के गान, चारु चित्र-पट, विविध पत्र-पत्रिकाओं (जिनके जंगल में ही उसका जीवन बढ़ा था) की चर्चा ही फिजूल। उसकी सहानुभूति और साधन में साधारणतया छत्तीस का ही सम्बन्ध दीख रहा था। वह ममतामयी चाहती तो थी बहुत-कुछ, पर लाती कहाँ से?

रसोई में खट्टी कढ़ी और चटनियों की ही प्रचुरता पाई जाती थी। तरकारियाँ बाहर से कम खरीदी जातीं। भोजन में घी का उपयोग चरणामृत के तौर पर ही हुआ करता था। छौंक-बघार की तो बात ही अलग, इडली और दोशे मे भी तेल का ही मेल मिलाया जाता! हाँ, वह तेल अवश्य मीठा होता—कड़ुवा कदापि नहीं। दही के दर्शन यदा-कदा ही हो पाते—दोनों जून अक्सर मट्ठे का ही महोत्सव मनाया जाता। इन सब पदार्थों की अनाभ्यासिनी उस अमीर घर की लड़की को, अगर आए-दिन सिर-दर्द और पेट पीड़ा होती है, तो इसमें किसी को आश्चर्य ही क्या होता?

और, वहाँ पितृ-गृह वाला वह विशाल पुष्पोद्यान भी तो नहीं

था—जिसमें सुबह्-शाम के सैर-सपाटे के साथ, उसकी 'नागिन-सी भुँइ लोटी' वेणी का फूल-सिंगार होता (जिसके लिए उसका मन अनजान में ही मचल-मचल उठता था)।

खरीद कर देने की हिम्मत उस घर में किसी को कब तक होती?

फिर शहरी शान वाली उन मखमली सैंडलों का इस्तेमाल वहाँ कैसे होता—जो रूठी-सी मुँह मोड़े, अब बरामदे में, ताख की शोभा बढ़ा रही थीं!

वहाँ—उस गँवई गाँव में—तो, बरसात में मोजे की तरह घुटनों तक चिमट जाने वाला लसीला घिनौना कीचड़, जाड़े में मनहूस ओस-कुहेस का अभिषेक, और गर्मी में तन-मन को झुलस देने वाली लू-लपट का ही घोर आतंक रहा करता है!

ईंट-पत्थर के खपरैल घर, किन्तु कमरे कच्चे। सहन में न पत्थरों की पिटाई, न दीवारों में पलस्तर, न चूने की पुताई, न ऊँची खिड़कियाँ, न कुछ टाँगने को खूँटियाँ। ऐनक वाली आलमारी और कुर्सी-मेज भला कहाँ से आती वहाँ?

उस घर में जैसे उस देवी का दम घुट रहा हो। उसके लिए वहाँ घबराना आसान था; मुश्किल था अपने मिचलाते मन को मनाना—जो उसका चरम साध्य था वहाँ। उसकी कसमसाहट, क्रम-क्रम से, कुछमछाहट में बदलने जा ही रही थी—कि एकाएक सामने आ गई, धनुही-सी झुकी कमर वाली उसकी वही बूढ़ी सास। जैसे किताब खोलकर ऊँघने वाले विद्यार्थी को कोई एक

चपत मार कर सचेत कर दे—बूढ़ी की झूलती देह के ऊपर फैली शान्त दृष्टि ने भी, उसे उसी तरह चौंका दिया। जैसे वह कह रही हो—"देखती नहीं, इस शरीर को मैंने कैसा साध लिया है? मैं भी एक धनी घर की ही लाड़ली लड़की थी, और थी कोमलांगी; पर मुझे अपने जीवन की बाजी जीतनी थी; और, आज मैं उसका कुछ गर्व कर सकती हूँ!'

वहे जाते हुए को जैसे लकड़ी का एक तुच्छ टुकड़ा मिल जाए—भले ही वह मरघट वाला अध-जला ही टुकड़ा क्यों न हो!

•

आखिर, श्रावण के एक शुभ दिन में, सास उस नवेली को सादर रसोई-घर में ले गई, और, चूल्हे के पास उसे बिठाकर, गम्भीर मुद्रा से, खुद बाहर निकल आई—जैसे वह देखना चाहती हो, कि चूल्हे की समस्या वह कैसे सुलझा पाती है?

छोटा-सा घर, धुएँ के कारण, और भी काला और कदर्य हो हो रहा था। दीवार और छप्पर से लटके कीड़े-मकोड़े-कृत झोल-जाल उसमें और भी वितृष्णा उत्पन्न कर रहे थे।

जलावन की लकड़ी ओदी थी; और पंखे का पता नहीं था। लक्ष्मी ने सुनहले फ्रेम वाला अपना चमकीला चश्मा उतारा, और चूल्हे के पास मुँह सटाकर, उसे फूँकना शुरू किया। दो-तीन फूँक मारते ही उसका सारा भव्य मुख-मण्डल चूल्हे की राख से भर गया, और धुएँ की कड़ुआहट कुछ ऐसी बढ़ी, कि उसकी साँस रुकने लगी। फिर भी बड़े साहस से वह फूँकती रही; पर

अन्ततोगत्वा उससे आँच न सुलगी। धुएँ की धुन्ध ने जैसे उठाकर उसे घर से बाहर फेंक दिया हो—आँचल-छोर से आँखें पोंछती, संकोच में गड़ी-सी, वह आँगन में खड़ी थी।

उस विदुषी नारी की यह वेबसी देखकर, बूढ़ी पहले कुछ विचकी, फिर वह गम्भीर बन गई—जैसे किसी द्वन्द्व-दुविधा से, आशा-निराशा से, वह झगड़ रही हो। दो-एक क्षण के बाद, धीरे-धीरे उठकर, वह चूल्हे के पास चली गई, और चुपचाप आँच सुलगाने लगी। उसके पोपले गालों वाले मुँह से बहुत कम ही हवा निकल पाती थी, फिर भी चूल्हे में सिर घुसाए, वह फूँकती ही रही। धुआँ घुमड़-घुमड़ कर उठता, बूढ़ी की धँसी आँखों में क्रोध से घुसता, पर कोई असर नहीं डाल पाता था। आखिर हारकर वह धूम-घटा भागी, और चूल्हे की आँच खिलखिला उठी।

आँगन में, सिर झुकाए बैठी लक्ष्मी का सिर, दर्द से फटा जा रहा था, परन्तु उस बूढ़ी को यों मौन भाव से रसोई घर में खटते देखकर, उसका वह सिर-दर्द उसकी आत्मा में प्रवेश कर गया। बस, एक झटके के साथ वह उठी, फिर माथे को अंचल-छोर से कसकर बाँधा, और सास के रोकते रहने पर भी, रसोई के कामों में एक अद्भुत जोश-खरोश के साथ जुट गई—जैसे कोई हताश प्राणी, कुहरे से घिरे किसी अन्ध जलाशय में, आँखें मूँदकर, झपाक् से कूद पड़े।

यों तीन दिन तक लक्ष्मी साहस के साथ उस धूम-धारा में

तैरती रही। चौथे दिन बारह बजे, जब वह पाक-गृह से निकली, तब उसके नेत्र, ओरुहुल के फूल की तरह, लाल-लाल थे; और देह, केले के पत्ते की तरह, डोल रही थी।

शंकित-मना सासने, पहले अपनी निस्तेज आँखें फाड़कर उसकी ओर देखा, पास आकर उसके माथे पर हाथ रखा, और कुछ बड़बड़ाती हुई खींचकर उसे कमरे में ले गई। खाट पर लेटते ही लक्ष्मी का वह बुखार एकाएक बौखला उठा; और एक हफ्ते तक वह ताप उसे यों दबोचे रहा, कि बेचारी आँख भी न खोल सकी।

वह एक ठेठ देहात था—न अस्पताल, न डाक्टर, न नर्स। थर्मामीटर भी नहीं। फिर भी लक्ष्मी को कोई अभाव वहाँ नहीं खटका—दिन-रात एक जीवन्त ममता-पूर्ण स्पर्श उसे चारों ओर से घेरे रहा। जब कभी उसकी आँखें खुलतीं, चिथड़े की गुड़िया-सी कोई उसके ऊपर झुकी दीख पड़ती थी—कुछ-न-कुछ लिए, कुछ-न-कुछ करती, तलवा या माथा रगड़ती—जिसे न नींद, न भूख-प्यास, न थकावट ही कभी उसके पास से हटा सकी।

विना किसी उपचार के ही, विह्वल-मना बूढ़ी के हाथ से सिर्फ थोड़ा कसैला काढ़ा पीकर, लक्ष्मी का बुखार भाग गया—जैसे बूढ़ी की आतुर दृष्टि और उसके काँपते हाथो में कोई जादू रहा हो।

संसार की सभी सामान्य सासो की तरह, लक्ष्मी की वह बूढ़ी अम्मा भी, आशा-भरोसा पाले आ रही थी, कि घर में पुतोह आई है, अब उसके थके-माँदे शरीर को कुछ आराम रहेगा—

वह कभी उसके मुँड़े सिर में तेल डाल देगी, गाहे-बगाहे कभी पैर भी पलोट देगी, देह-गेह में सदा साथ देगी। यही नहीं, सबसे बड़ी बात तो उसके मन मे यह बैठी हुई थी, कि अब उसे रसोई-घर के कामो में घुलना नहीं पड़ेगा—होशियार पुतोह सब-कुछ सँभाल लेगी।

सास सुन चुकी थी, कि लक्ष्मी खूब पढ़ी-लिखी है, गाना-बजाना जानती है, इतिहास-पुराण कहती है; लेकिन उस बेचारी को उन सब बातों से प्रयोजन ही क्या था? हाँ, उसके मीठे कंठ से 'भागवत' सुनने की लालसा उसके अन्तर के कोने में कहीं जरूर छिपी थी। किन्तु मुख्य बात तो यह थी, कि बड़ी व्यग्रता से वह अपनी अस्थिर अवस्था का आधार ढूँढ़ रही थी।

अपनी सेवा-टहल के बदले बूढ़ी को अब पुतोह की ही सार-सँभाल करनी होगी—इस कठोर सत्य से वह बहुत घबरा उठी। स्वभावानुसार कुछ झल्लाई, मन ही मन उसे कुछ कोसा भी; पर जैसे ही उसने आँखें उठाई, लक्ष्मी के उन बड़े-बड़े नत-नयनोंने, और उनके ऊपर से बरसने वाले मनहर सौजन्य ने उस पर जादू की लकड़ी फेर दी, और उसका मुँह न खुलने दिया—जैसे कोई स्वर्ग-लोक की देवी ही उतर आई हो उसके उजड़े आँगन में! यही कारण था, कि उस बीमार बहू की सेवा-शुश्रूषा करते हुए, बूढ़ी के खोखले पड़े दिल में, एक अनुपम अनुराग भी आ बसा था।

इधर इस बीमारी से लक्ष्मी को एक बड़ा लाभ यह हुआ, कि अपने और पराए की उसकी पहचान बढ़ी; जिसका नतीजा हुआ—अपने ऊपर गहरी ग्लानि, और जरा-जर्जर सास के प्रति आकुल श्रद्धा। दूसरा फायदा उसे यह मालूम हुआ, कि उसकी छलनामयी चिर-संगिनी गर्वानुभूति (जो सौजन्य के अन्दर से भी झाँका करती थी) झर गई—जैसे वसन्तागम के पहले पेड़ों के पुराने पत्ते गिर पड़ते है। तीसरी विशेषता यह देखी गई, कि उसका शिथिल पड़ता वह संकल्प सहसा सुस्थिर हो गया। देह को झाड़ती, मन ही मन, जैसे वह तुलसी की वाणी में ही गुनगुना उठी हो :

'अब लौं नसानी, अब न नसैहौं।'

पूस की प्रातः कालीन ठंडी हवा में भी, भींगे कपड़ों से लिपटी, वृद्धा सास कुएँ से पानी भर लाई। यह उसका दैनिक कार्मक्रम था। उस घर की परम्परा ही थी, कि पीने और रसोई के लिए घर की बड़ी-बूढ़ी ही पानी भरें।

सुशिक्षिता लक्ष्मी से यह अत्याचार देखा न गया। दूसरे दिन चुपचाप, बड़े तड़के ही, वह कुएँ पर चली गई, और, छोटी बाल्टी को छोड़कर, बड़ी गगरी से ही पानी खींचने लग गई। एक कलशी तो उसने बहादुरी से खींच ली, दूसरी में उसका दम फूलने लगा, और तीसरी खींचते-खींचते उसकी सुकुमार बाँहे ऐंठ गई। फिर भी चौथी गगरी उसने कुएँ में डाल ही दी : और रुक-रुक कर, दम ले-ले कर, भरी कलशी खींचने लगी। रस्सी के

साथ उसकी सुचिक्कन भुजाएँ भी घूम रही थीं, कंचुकी से कसी हुई उसकी सुडौल छाती बेतरह ऊपर-नीचे हो रही थी। पसीने से वह तर-बतर थी, और गगरी घोंघे की चाल से, ऊपर आ रही थी। सहसा सास के खाँसने की आवाज उसके कानों में पड़ी, और चौंककर लक्ष्मी घूम पड़ी, और आँगन की ओर देखने लगी। उसके हाथ जरा ढीले पड़े; और सरसराती, उसकी हथेलियों को निष्ठुरता से रगड़ती हुई रस्सी हाथ से छूट गई—और पलक मारते कलशी चभाक से जल-तल में जा बैठी।

खीझ और झल्लाहट से भरी, अपने दोनों हाथों को मलती, सिर झुकाए, लक्ष्मी कुछ क्षण कुएँ के हलचल-भरे अन्तराल को देखती रही। 'वह भी क्यों न कूद पड़े इस गगरी के साथ?'—अपनी इस मूर्खता-भरी प्रेरणा पर उसे हँसी आ गई; पर तुरत वह हँसी महा अनुताप में बदली, और वह अपनी अरुण उँग-लियाँ ऐंठने लग गई···

अचानक कहीं से, नंग-धड़ंग-सा, सुब्रह्मण्यम् कुएँ पर आ गया; और बिना इधर-उधर देखे, कड़ी पकड़कर, धड़ाधड़ कुएँ में उतर गया।

हठात् उसे अपने पास देखकर लक्ष्मी चौंकी, और अवाक् रह गई—उसके मुख पर एक शंका, एक संकोच और एक संतोष, एक साथ खेलने लग गए।···

घबराई हुई बूढ़ी भी आकर वहाँ खड़ी हो गई, और आँखें फाड़-फाड़कर, कभी पुतोहू की ओर, तो कभी कुएँ की ओर

झाँकने लगी।

थोड़ी ही देर में, कलशी लिए हुए, सुब्रह्मण्यम् कुएँ से ऊपर आ गया, और बगैर किसी की ओर देखे, क्षण-भर मे आँगन से चम्पत हो गया।

लक्ष्मी अकचकाई-सी देखती रह गई उस पुरुष की बहादुरी और उसकी कायरता को।

"इतनी उतावली क्यों करती हो ?" सासने पास आकर लक्ष्मी से कहा—"अभी-अभी तो बीमारी से उठी हो।···और यह भी समझ रखो, कि जब तक मेरे हाथ-पाँव चलते है, यह काम तो तुम्हें करना नहीं पड़ेगा। हाँ, अभ्यास ही करना चाहती हो, तो धीरे-धीरे बाल्टी से खींचो।···वाह—एकाएक गगरी ही डाल दी तुमने कुएँ में !"

कष्टों में पिसते हुए भी, मनुष्य का मन, कभी-कभी विचित्र हठ कर बैठता है—शरीर उसका भले ही साथ न देता हो, पर मन उमंग से तरंगित हो जाता है, और अपने शुभैषी से ही तर्क कर बैठता है—'पानी में पैठे विना तैरना कैसे आएगा, अम्मा ?'

लक्ष्मी का वह तर्क बूढ़ी को यद्यपि प्यारा लगा, पर वह उसका समर्थन न कर सकी—सिर्फ एकटक उसकी भोली चित-वन को देखती रह गई। कुछ देर बाद जैसे उसे कुछ याद पड़ जाए, और वह हड़बड़ा कर कहने लगी :

"सो तो ठीक कहती हो बेटी, पर यह भी तो मानोगी, कि

नहरनी से गाछ-वृक्ष नहीं काटा जाता है। जो जिसके लायक है, उससे वही काम लेना ठीक है।···भला इन कामों में कहीं तुम्हारा यह सुकुमार शरीर खड़ा रह सकता है ?"

"और यह शरीर"—सास की ओर उँगली उठाकर, मुसकुराती-सी, लक्ष्मी बोली—"कैसे खड़ा हो सका ?"

बूढ़ी सचमुच कुछ चकित-सी अपनी ओर देखने लग गई—जैसे सपने की कोई भूली बात याद कर रही हो। सच, उसके इसी शरीर का न वह सौन्दर्य था, जिस पर किसी समय सारा गाँव गर्व करता था, और जिधर से वह निकल जाती थी—विजली छिटक पड़ती थी। उसी रूप के लोभ से तो उस बूढ़े जालिम ने उसका हाथ पकड़ लिया था !···धीरे-धीरे उसकी जवानी की स्मृति कड़वी होती गई, और कुछ अनमनी-सी होती, नजर उठाकर वह बोली :

"वेटी, इस देह की बात छोड़ो; मेरा मन तो तुम-सा सज्ञान न था। और जानती ही हो—कि मूरख का मन न डर जानता है, न कुछ सोचता ही है; और सोचकर होता ही क्या—मुँह खोलने का साहस कहाँ से लाती ?···इस लजौनी देह को भी तुम्हारे विख्यात ससुर ने, अपने मृदुल कर-चरण से ठोक-पीटकर उसी तरह दुरुस्त कर दिया—जिस तरह कुम्हार अपने कच्चे घड़े को, थापी के जोर से, मजबूत बना देता है !"

बचपन में, अपनी माँ के मुँह से सुनी, अपने नाना की भीषण प्रकृति की कहानी लक्ष्मी को याद आ गई, और एक तीक्ष्ण मर्म-

वेदना से द्रवित और भीत वह युवती उस बूढ़ी के गोरे रंग को, उसकी लम्बी नाक को और उसके उन्नत ललाट को देखा; फिर उसकी निगाह फिसलती हुई, बूढ़ी की भौंहों के बीच, एक छोटे-से तिकोने गढ़े पर रुकी, उसकी टेढ़ी केहुनी पर अटकी, और उसके दाहिने फटे कान पर आकर सहसा फट-सी गई।···ये सब उसी बूढ़े जालिम के प्रसाद के अवशेष चिह्न थे—जो अब भी बहुत-कुछ कहते जान पड़ते थे।

पानी जमकर जाड़े में बर्फ बन जाता है, और गर्मी में वही बर्फ पिघलकर पुनः पानी हो जाती है। यों ही कठोर और मृदुल होती विदुषी लक्ष्मी सोचने लगी :

'यही है हमारा वह अति-प्राचीन महान् कुल-धर्म, जिसके ऊपर असंख्य नारियाँ अनन्त काल से न्योछावर होती आई हैं पुरुष के धूल-धूसरित चरणतल में लोट-लोट कर कृतार्थ होती!'

यह सोचते-सोचते व्यथितात्मा लक्ष्मी की आँखों के आगे, कुएँ में जाते-आते, सुब्रह्मण्यम् का वह गठीला और फुर्तीला बदन आ खड़ा हुआ; और अनजान में ही वह अन्दर से सिहर उठी—जैसे कोई चुपके से पूछ रहा हो—'यह भी तो उसी जालिम बाप का सपूत है न—क्या इसके पौरुष का प्रसाद इस सुन्दरी को भी चखना पड़ेगा?'

सहसा लक्ष्मी उस दृढ़मना बूढ़ी के शिथिल चरणों में झुक गई, और एक अबोध शिशु-सी सिसक उठी। देखते-देखते उसकी

सारी ज्ञानगरिमा, एकाएक उष्ण पानी बनकर, बूढ़ी के पावन चरण धोने लग गई।

यह देख बूढ़ी विह्वल-व्याकुल हो गई; और आतुरता के साथ लक्ष्मी का सिर अपनी गोद में रखकर, प्यार से सहलाती, वह भी आँसू बहाने लगी :

"साहस न छोड़ो, सज्ञान बेटी! जानती ही हो—नारी का जन्म कष्ट भोगने के लिए ही होता है। लेकिन, विश्वास रखो—जब तक मेरे हाथ-पाँव चलते हैं, मैं अपने बूते-भर तुम्हें तकलीफ में नहीं डालूँगी। भगवान् तुम्हारा भला करे! और मैं कर ही क्या सकती हूँ?······बेटे ने मेरी बात न मानकर, तुम से शादी कर ली—सच पूछो, तो मैं दिल से यह नहीं चाहती थी।"

कहती-कहती वह कुछ रुकी, फिर गंभीर होती बोली—"जो होना था, वह तो हो ही गया है, बेटी। लेकिन अब तुम जरा संयम से रहो; नहीं तो इस घर में खड़ी न रह सकोगी।" हठात् कुछ याद-सी करके वह अनुनय के स्वर में कह उठी—"हाँ, मुझे गजेन्द्र-मोक्ष-कथा गाकर तुम कब सुनाओगी, बेटी?"

"अम्मा···"—लक्ष्मी शून्य दृष्टि से कहने लगी—"गज और ग्राह की लड़ाई, तो एक लम्बे युग से, तुम इस आँगन में देखती आई हो। अब एक नया गज भी आ फँसा है तुम्हारे सामने। पहले उसे तो उबार लो, दयालु अम्मा।" कहती-कहती, सजल घन पर इन्द्रधनुष-सी, उसके मुख पर मंद हँसी बिखर पड़ी।

"बेटी···"

"हाँ-हाँ; रुक क्यों गई, अम्मा ?"

"सच बात तो यह है, कि तुम पर यह वज्रपात तुम्हारी माँ के हठ के कारण ही हुआ। सुब्रह्मण्यम् ने अपनी बड़ी बहन के सामने कभी सिर नहीं उठाया था; और जब उसके बहनोई ने भी उस पर जोर डाला, तब वह बेचारा गँवार क्या करता—चुप रह गया। लेकिन..."

बोलती-बोलती बूढ़ी के कंठ में कुछ अटक-सा गया, और वह एकटक लक्ष्मी का मुँह देखने लग गई।

लक्ष्मी कुछ मलिन पड़ती बोली—"लेकिन, इतनी पढ़ी-लिखी होकर भी मैं क्यों राजी हुई—तुम यही कहना चाहती हो न ?" सास की आँखों में अपनी दृष्टि गड़ाकर लक्ष्मी ने कुछ सहास कहा—"इसका जवाब क्या तुम नहीं जानती हो, अम्मा ? पढ़ा-लिखा तो मेरा मन है—जो मेरी मुट्ठी में बन्द है; परन्तु मेरा यह तन...यह तो उन्हीं के इशारे न नाचता रहेगा—जिनके अन्तःसार से यह धरती पर आ खड़ा हुआ है। यह हमारा सनातन धर्म है, अम्मा—माँ-बाप की परम दुलारी सन्तान होकर, उस धर्म की अवहेलना मैं कैसे करती—तुम्हीं कहो न ?"

यह सुनकर बूढ़ी ने कुछ मायूसी से अपना मुँह फेर लिया—जैसे कोई कड़वी चीज उसके मुँह में पड़ गई हो। परन्तु वह विरोध भी नहीं कर सकी उस महान् धर्म का, जिसपर वह खुद अनजान मन से उत्सर्ग हो चुकी है। फिर भी वह यों ऐंठ-जूठ

रही थी, जैसे कोई गंगा-तट पर बैठा, मुँह विचकाता लाचारी से गोवर-बालू निगल रहा हो—किसी प्रायश्चित्त के विधानानुसार !

"ये कपड़े उतार दो"—सम्हल कर बूढ़ी ने अत्यन्त कोमल स्वर में कहा—"मै छाँट दूँगी; तुम अभी दो-चार दिन और आराम करो, वेटी—वहुत कमजोर हो ।"

"इतना प्यार मत करो, वड़ी अम्मा !" लक्ष्मी, हँसी को बुलाती वोली—"हाथ जोड़ती हूँ—मुझसे कसकर काम लो; अन्यथा मैं उभय-भ्रष्ट हो जाऊँगी !"

कुछ वड़वड़ाती हुई बूढ़ी वहाँ से उठ गई ।

लक्ष्मी बूढ़ी की शिथिल चाल और उसकी विकृत भाव-भंगिमा की ओर गौर से देखती, तेजी से मन ही मन अपने भविष्य की आलोचना करने लगी :

"यद्यपि यह बूढ़ी औरत अध-जली वत्ती है, चार दिन की चाँदनी है, मौत की मेहमान है; पर है कितनी ठोस जमीन पर खड़ी ! और मैं···हत-भागिनी मैं···कैसे इस घर को सम्हाल सकूँगी—जव यह वत्ती वुझ जाएगी, जव यह सहारा भी मेरा उठ जाएगा ?"

अन्तर की निस्तब्धता, कर्म-कोलाहल की चंचलता में भी, यदा-कदा निश्चेष्टता को वुला लाती है। यों काम-धन्धों के वीच भी लक्ष्मी, जब-न-तब, निश्चेष्ट-सी होने लगी।

शून्य प्रान्तर में, गर्वोन्नत भाव से खड़े, विशाल सेमल के शिखर से फूटकर, हवा में उड़ने वाली झीनी रूई के रेशे की तरह, जो ललना कल्पना-कुंज वाले शैशव से ही, मसृण मृणाल-तन्तु-जाल से खेलती आई थी; ज्यों ही आँख बन्द किए वह जीवन की पहली सीढ़ी पर चढ़ी, कि बेतरह डगमगाने लग गई !...

लेकिन यह तो, अदृश्य की गुहा में छिपे, भयंकर भूकम्प का पहला ही धक्का लगा था उसे—जलाशय में मौज से तैरते हुए उसके मृदुल चरण तो अभी केवल शैवाल-जाल से ही उलझे थे। असली मगरूर मगर तो अभी, दूर-दूर से ही, उसे घूर रहा था—जिसकी डरावनी सूरत उसे सर्वत्र दिखाई पड़ती थी, और जिससे सामना होने की सम्भावना ही, उसके तन-मन को कुरेद-कुरेद जाती थी।

सोच-सोचकर जब वह ज्ञान-गर्वीली इस निर्णय पर पहुँचती—कि धर्मक्षेत्र रूपी उस कुरु-क्षेत्र में तो उसे—'न हन्यते हन्य माने शरीरे'—वाला कवच-कुण्डल ही धारण करना पड़ेगा—वहाँ तो इस बेबस बूढ़ी का भी बल उसे नहीं मिलेगा, तब वह एकदम अपने-आप में खो-सी जाती थी।

परन्तु स्कूल-कालेज की सारी परीक्षाओं के बाद, यही 'अग्नि परीक्षा' देने तो वह यहाँ आई थी—इसी परीक्षा में पास करने पर तो जीवन की बाजी वह जीत सकेगी। और, अगर इस आग की आँच से वह जरा भी घबराई, तो उसका सारा किया-

कराया, उसका सारा संकल्प, उसकी सारी साधना ही मिट्टी में मिली !

अनुभवी सास लक्ष्मी की इस मौन-भीति को खूब पहचानती थी, पर विवश बनी बैठी थी—ठीक बलि-वेदी पर चढ़ने वाले निरीह बकरे की बेचारी माँ की तरह !

आलोड़न

स्त्री के सौन्दर्य में एक ऐसा जबर्दस्त आकर्षण होता है, जिससे रूपासक्त पुरुष अपनी रूपवती पत्नी का गुलाम बन जाता है—उस पर लट्टू बना रहता है, सदा उसे आँखों में छिपाए रखना चाहता है; और, अगर कहीं देवीजी गुणवती भी हुईं, तब तो कुछ पूछना ही नहीं—देवता 'दासानुदास' की पदवी प्राप्त कर धन्य बन जाते हैं, कठपुतली की भाँति उसके मायामय इशारों पर नाचते रहते है। इसी में वे पतिदेव अपने जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता समझ बैठते हैं।

विदुषी लक्ष्मी में रूप और गुण का सुन्दर मिलन 'सोने में सुगन्ध' वाली कहावत को चरितार्थ करता था—सही मानी में। छरहरे बदन वाली गोरी लक्ष्मी का ललाम रूप जो था, वह तो था ही—अनूठी थीं, कच्चे आम की फाँकों की तरह, उसकी बड़ी-बड़ी वे आँखें—जो तेज टॉर्च से भी तेज, सरसों के पुष्प-रस से तैयार लसीले शहद से भी अधिक मीठी, खिले हजारा-गुलाब से भी ज्यादा ढुलमुल और हृदय-हारी जान पड़ती थीं।

विश्व के विचित्र वरदान-से, अपने उन लोल-लोचनों का मूल्य, शायद लक्ष्मी से छिपा न था—जो दोनों हाथों जैसे लुटा देते थे, वैसे ही चुपचाप बटोर भी लेते थे बहुत कुछ!

लेकिन लक्ष्मी को, नेत्रों के इस लोक-प्रिय व्यापार में, वैसी

कोई खास दिलचस्पी नहीं जान पड़ती थी। इसी लिए वह 'दृष्टि-दान' में अत्यन्त कृपण थी—सदा अपने-आप में ही उन जादूगरों की गोलियों को उलझाए रखती थी।

सुन्दर संगीत-ध्वनि, जब जड़-जीव तथा हिंस्र पशु तक को मुग्ध कर देती है, तब सुन्दरता की मोहिनी मूर्ति लक्ष्मी देवी वीणा पर गाए, और भावुक मानव उस पर मुग्ध न हो—यह भी कभी संभव था ? अतः जब कभी वह अन्यमनस्का देवी वीणा लेकर बैठ जाती, तब सारा काम-काज भूलकर, मुग्ध भाव से, अतृप्त आकांक्षा से, तरंग-रहित तन्मयता से, चकोर-दृष्टि से कोई अनजाना आकुल प्राण, अदृश्य रूप से भी, उसका गाना-बजाना सुनता रहता था। संगीत-सुधा-सागर में निमग्ना नारी की सुघर उँगलियाँ, जब चंचल कंपन के साथ, वीणा के तुच्छ तारों को झंकृत करने लगतीं—तब, नाद-मुग्ध नाग की तरह, नेत्र बन्द किए, वह गँवार भी कही डोलने लग जाता था। लक्ष्मी के स्वर-भंग हो जाने पर भी संगीत-मुग्ध उस पुरुष की मुग्धता टूटती न थी।

लक्ष्मी जब कभी यह दृश्य देख लेती, तो अनजान में ही खुश हो जाती; पर, जाने क्यों—उसका तन-मन क्षण में संकुचित हो जाता; और एक व्यापक विरक्ति उसे चारों ओर से घेर लेती। पुरुष भी नारी का वह सहज संकोच समझ जाता, और शर्मिन्दा होकर भाग खड़ा होता।···

यों कुछ काल भाव-सागर में ज्वार-भाटा अपना खेल दिखाते रहे।...

क्रमशः वह पुरुष अपनी पत्नी के सामने आने-जाने में भी संकोच करने लगा; क्योंकि वह सीधे उससे नजर मिलाने का साहस नहीं कर सकता था।

हठात् उस गँवार गृह-पति में एक अद्भुत परिवर्तन दिखाई पड़ा।

यों तो वह सपूत, अपने बाप-दादों की भाँति, स्वभाव से ही कट्टर मितव्ययी था। अपनी परिमित आय से भी, कुछ-न-कुछ बचा लेना, उसका अभ्यास-सा हो गया था। विवाह होने पर भी, कुछ दिनों तक वह वैसी ही सावधानी बरतता आया था। लेकिन जब से कुएँ में उतरा, लक्ष्मी के कष्टों को वह अधिक टाल न सका। क्रमशः गाढ़ी ममता से जमा की हुई अपनी थोड़ी-सी सम्पत्ति की सार्थकता, वह नौजवान अब गृह-देवी की प्रसन्नता में ही समझने लगा।

देखते-देखते उसका काया-पलट हो गया। फूल बेचने वाले का भाग्य अब जगा; अब वह कभी खाली नहीं जाता है—लक्ष्मी के रोकते रहने पर भी, सुब्रह्मण्यम् फूल खरीद लेता है। बालों में फूल लगाने का लोभ लक्ष्मी से भी रोका नहीं गया। पुरुष को नारी की इस दुर्बलता से एक कोमल आधार मिला—उसका साहस कुछ बढ़ा।

दक्षिण की नारियों में फूल-बाल का यह सौभाग्य-सम्बन्ध

ऐसा ही जबर्दस्त होता है।

दूध-घी की कमी की ओर भी उस कृपण का ध्यान गया, और वह एक दिन एक बढ़िया काली गाय खरीद कर ले आया। वह गाय इतनी खूबसूरत और इतनी भोली-भाली थी, कि लक्ष्मी का वैरागी मन भी, उसे देखते ही, परम अनुरागी बन गया।

अब सुबह-शाम वह उसकी देख-रेख में खुद मुस्तैद रहने लगी। उस गाय के लिए, नौकर सायबू के द्वारा, वह खास तौर से हरी घास मँगवाती, और अपने हाथों खिलाती थी। गाय का छोटा नटखट बछड़ा उसके साथ अद्भुत हाव-भाव से खेला करता था। वह नासमझ, चंचल, और क्रीड़ासक्त जानवर उससे इतना हिल-मिल गया था, कि अगर लक्ष्मी किसी दिन संयोगवश उसे प्यार नहीं करती, और उसके साथ नहीं खेलती, तो वह पूँछ उठाए दौड़ा आकर उसकी गोद में अपना छोटा-सा सिर डाल देता, और मानव-बच्चों की तरह उछल-कूदकर ऊधम मचाने लग जाता था। और, इधर गाय की हालत यह थी, कि जब तक वह लक्ष्मी के हाथों कुछ खा नहीं लेती, उसे चैन नहीं लेने देती—रँभा-रँभाकर परेशान कर देती थी। गाँव की अधिकांश गाएँ नेत लगाकर दुही जाती थीं, पर लक्ष्मी की यह 'काली कमली' योंही उसके सामने खड़ी हो जाती थी, और जब तक लक्ष्मी उसे दूह न लेती, उसके पास से हटती न थी। लक्ष्मीने मायके में गो-दोहन का यह काम नहीं किया था, लेकिन कमली ने उसे सब कुछ सिखा दिया। जब वह मटिया लेकर दुहने बैठ

जाती, तब आने-जाने वाले उसकी शोभा देखते ही रह जाते थे। सुब्रह्मण्यम् भी, लुक-छिपकर, यह गो-दोहन देखता, और मन-ही-मन धन्य हो जाता था।

यों गाय और बछड़े ने लक्ष्मी के नीरस जीवन में एक नई स्फूर्ति ला दी। जैसे सर्व-दर्शी प्रकृति ने ही चिन्ता से गलती जाती उस अबला के ऊपर यह दया दिखाई हो।

इधर घर की मरम्मत करवाई गई। बाहर-भीतर सर्वत्र चूना पोता गया। एक शीशेदार आलमारी, कुछ कुर्सी-टेबिल, और कुछ भड़कीली रंगीन तस्वीरें भी एक दिन घर में आ गईं। घर के पीछे वाले कुएँ को उरेहा गया, और जगत पीट कर, उसमें घिरनी भी लगा दी गई। उसी के सामने एक बाथ-रूम भी बनवा दिया गया, और उसमें पानी गरम करने के लिए 'बायलर' भी रख दिया गया। घर-आँगन सब जगह काले-चिकने पत्थर पीट दिए गए।

लक्ष्मी ने साश्चर्य यह सब देखा; और, वह मन-ही-मन मुस-कुरा उठी—'कोर्टशिप' बुरा तो नहीं है!

लक्ष्मी के इशारे का सौभाग्य तो उस भोले पति को प्राप्त नहीं था; किन्तु उसकी अप्रकट आकांक्षाओं पर ही नाचने वाला वह पुरुष, अपने प्राणपण से, लक्ष्मी को प्रसन्न करने और उसे अपनी ओर अनुरक्त बनाने की अथक चेष्टा करने लगा। लेकिन भाग्य-रेखा ऐसी प्रबल थी, कि उसकी जुटाई उन चीजों की ओर लक्ष्मी आँख उठाकर भी नहीं देखती थी। पुरुष विस्मित,व्यथित,

चकित और थकित होने लगा।

देखते-देखते उस नासमझ नर के भावों में एक अनोखा परिवर्तन होने लगा। अपनी गृह-देवी को देखकर वह खुश तो होता है, पर उसके सामने जाते ही, उसे ऐसा लगने लगा—मानों वह किसी मन्दिर में आ गया हो। और जब कभी संयोग से उसकी आँखें लक्ष्मी से मिल जातीं, तो हठात् वह एक विचित्र संकोच में पड़ जाता, उसकी पलकें अपने-आप गिर जातीं, और उसका सिर झुक जाता।

पहले कहीं से वह फूल चुन लाता था, तो प्रसन्न साहस से लक्ष्मी के हाथों में डाल देता था; लेकिन अब वह इस पुष्पार्पण में भी झिझकने लगा। फूल देते समय अगर कहीं उसके हाथों का थोड़ा भी स्पर्श लक्ष्मी की हथेली से हुआ, तो वह एक विचित्र अकचकहट से सिहर जाता—जैसे वह लक्ष्मी के स्पर्श का अधिकारी न हो, जैसे अपने स्पर्श से उसने किसी दिव्य पदार्थ को अपवित्र बना दिया हो!

अपनी इस विचित्र भावना पर वह खुद चकित था, पर उसकी हीन-भावना उससे इतनी चिपक गई थी, कि किसी भी तरह उसका साथ न छोड़ती थी। गँवार तो वह था ही, मनोविज्ञान की इन पहेलियों की गहराई में क्यों जाता! मन को समझाने के लिए वह लक्ष्मी को स्वर्ग-लोक से उतरी हुई एक दिव्य देवी मानने लगा; और धीरे-धीरे उसकी भावनाएँ अर्चना का रूप धारण करने लगीं।

इस भाव-परिवर्तन का एक जबर्दस्त कारण भी तो था :

रूप, गुण तथा रहन-सहन मे लक्ष्मी से अपने को हारा हुआ मानकर, खुशामद के बल पर ही, वह उसकी आँखों में गौरव पद पा जाना चाहता था—उसको अपने वश में कर लेना चाहता था। उसने किया भी वही—तन-मन-धन से लक्ष्मी की प्रसन्नता पाने की जी-तोड़ कोशिश उसने की; लेकिन आश्चर्य तो यह था, कि जैसे-जैसे उसने उसकी प्रसन्नता-प्राप्ति के प्रयत्न किए, वैसे-वैसे वह रूपसी उससे और भी दूर होती जान पड़ी—जैसे कोई तिनका बाढ़ की तेज धारा में ऊब-डूब होता, अपने साथी से बिछुड़कर, दूर-दूर बहता चला जाए!

प्रकृति के प्रांगण से किसी ने कहा—"पूर्ण चन्द्र सचराचर में सुधा की धारा बहा रहा है, और प्रेमी चकोर, फेनिल समुद्र-तट पर बैठा, उसकी ओर चिन्ता और व्यथा से देखता है!"

फिर कहीं से प्रश्नवाचक स्वर सुन पड़ा—"क्या लक्ष्मी सुब्रह्मण्यम् से इतनी दूर है?"

कहीं पास ही बैठे किसी पक्षीने चहककर जवाब-सा दे दिया—"दुर्भाग्य! लक्ष्मी तो सर्वस्व समर्पण के लिए उसकी प्रतीक्षा ही कर रही है; पर यह अभागा कापुरुष तो है ही, नालायक भी कम नहीं है। सच तो यह है, कि पत्नी के सामने जाने की उसकी हिम्मत ही नहीं होती है!"

पहले पक्षी ने जैसे हँसकर कहा—"लक्ष्मी ग्रीष्म-कालीन प्रखर प्रभा-पुञ्ज वाला प्रचंड सूर्य है, और यह गँवार शुष्क

सरोवर का उस पद्म-पुष्प के समान है—जो अपने प्रेमी के तेज से ही सूखता चला जाता है।"

स्तब्ध हो रहा सुब्रह्मण्यम् धीरे-धीरे सब कुछ समझ गया, और प्रतिक्रिया स्वरूप उसने भी अपनी चाल बदल दी। पहले वह झेंपता हुआ भी, लक्ष्मी की नजरों में यदा-कदा पड़ जाता था, पर अब एकदम उससे दूर-दूर रहने लगा। ज्यादा समय वह अब अपने ज्वार के खेतों में बिताने लगा। दिन मे लक्ष्मी जब अपने कमरे में आराम करती रहती, तब वह घर का मालिक चुपके से आता, माँ के हाथ से परोसवाकर भोजन कर लेता, और फिर दबे पाँव खेत पर चला जाता था। रात में भी वह तब आता, जब लक्ष्मी गाढ़ी नींद में पहुँच गई होती।

हाय, हमारी हीन-भावना कैसी पहेली बन जाती है!

बूढ़ी माँ अक्सर अपने उस कोख-कसाले को बहुत कोसती-फटकारती; पर वह, बिना कुछ जवाब दिए ही, उसके सामने से चला जाता। बूढ़ी सिर पीटकर रह जाती।

लक्ष्मी यह सब देखती कुतूहल से भर जाती—"कैसा गँवार है!"

एक दिन, भोजन के बाद, वह प्रतीक्षा में जगी रही; और, चोर की तरह, जैसे ही पुरुष रसोई-घर में घुसा—लक्ष्मी शीघ्रता से उठी, और निस्संकोच रसोई-घर में चली गई।

बूढ़ी कुछ चौंकी, और खुशी से फूलती, झटपट अपने कमरे में जाकर लेट गई।

अब वह चोर-पुरुष जैसे पुलिस के हाथों में पड़ गया हो। सुब्रह्मण्यम् एकदम सकपकाया-सा, सिर झुकाए, भोजन करने लगा। दृढ़ संकल्प वाली लक्ष्मी पूछ-पूछकर खाना परोस रही थी; और वह बिना बोले, बिना सिर उठाए, धीरे-धीरे खा रहा था। आशंका उसके मन में चाहे जो रही हो, पर आज खाने में उसे, दर-असल, कुछ दूसरा ही स्वाद मिल रहा था।

हाथ-मुँह धोकर, शंकित मन एवं शिथिल पैरों से, जैसे ही वह बाहर निकला—कि, बिजली की तरह कौंधकर, लक्ष्मी सामने आ खड़ी हुई; और, निधड़क हाथ पकड़कर, उसे अपने कमरे मे खींच ले गई।

बूढ़ी अपने कमरे में मुँह लपेटे लेटी थी—जैसे गाढ़ी नींद मे जा पड़ी हो, परन्तु उसके कान आज तेज आँखों का काम कर रहे थे। जैसे ही उधर लक्ष्मी ने कमरा बन्द किया, इधर बूढ़ी की पनीली आँखें आह्लाद से उमड़ पड़ीं, और कुछ पुलकित होती, अपनी नस-कट खाट पर करवटें बदलती, वह कुल-बुलाने लगी:

"कैसा साहस···पढ़ी-लिखी है न···कब तक मन मारे रहती···ठीक···देखना है अब यह बुद्धू क्या करता है?···"

पलंग के पास पहुँचकर, उस दर्प-दीप्त नारी ने अपने कैदी को मुक्त कर दिया; और जरा हटकर, उसके वैष्णवी रंग, नेपाली कद, और भुटानी भौंहों पर अन्वीक्षक दृष्टि दौड़ाने लगी। हाँ, उसके झुटुंगे बाल और अध-खुले होठों से नारी के वे नलिन-

नयन अवश्य कतरा रहे थे।

गठीले बदन वाला वह अधिकारी पुरुष, भींगी बिल्ली की तरह, सिकुड़ा-सिमटा, उँगलियाँ तोड़ता, निश्चल खड़ा रहा—जैसे कोई अपराधी विद्यार्थी प्रिंसिपल के सामने, अपने अपराधों को तौलता, सजा की कल्पना कर रहा हो !

यह देख नारी के नेत्रों की शान्त गम्भीरता कुछ हिली और उसका सहज स्वर-मार्दव मिटने लगा :

"बैठते क्यों नहीं ?"

सुब्रह्मण्यम् अपनी बाँई कलाई सहला रहा था : कौन जाने—नारी के उस कर-स्पर्श की सुखानुभूति के लोभ से, या अपने सहज संकोच से, वह अंग-स्थल, उसकी दृष्टि में आज इतना महत्त्वपूर्ण हो रहा था ?

कोई जवाब न पाकर खीझ-भरी लक्ष्मी का स्वर कुछ क्षुब्ध हो उठा :

"यों सकपकाए क्यों खड़े हो ?···पलंग पर साँप-बिच्छू तो हैं नहीं !"—लक्ष्मी के लोचन कभी पलंग पर, कभी उस गृह-स्वामी पर, कभी अपने पर पड़ने और लोल होने लगे।

पुरुष में तब भी कोई संचलन नहीं हुआ।

लक्ष्मी ने तब कुछ तीक्ष्ण स्वर में कहा—"इधर देखो ?"

सुब्रह्मण्यम् का सिर, मशीन की नाई, तत्क्षण लक्ष्मी की ओर घूम गया—जैसे कमांडर के आदेश से ड्यूटी पर के सिपाही का शरीर सहसा घूम जाता है—आज्ञा-पालन में। लेकिन उसकी

दृष्टि शून्य थी—जैसे वह कहीं कुछ भी देख न रहा हो !

लक्ष्मी, उसकी आँखों में आँख डालकर, कहने लगी : "देखो—मैं नादान शिशुओं के खेल की गुड़िया तो हूँ नहीं, जो रंगीन लत्तों से सजाकर दिन भर उछाली जाएँ, और दिवस के अवसान होते ही, उपेक्षा भाव से, ऊँचे आले पर रख दी जाएँ !"

नारी ने उमड़ रहे अपने आकुल आवेग को बड़ी सावधानी से संयत किया, और स्वर में मृदुता लाती बोली—"मैं सजीव प्राणी हूँ, और साँस लेने की सुविधा चाहती हूँ इस घर में··· अगर यों कतराकर ही चलना था, तो शादी करने की उतावली क्यों हुई थी महाशय को ?"

बूढ़ी सुनकर घायल-सी हो गई—'किस निर्ममता से फट-कार रही है अपने पति को ?'

'शादी' शब्द से लक्ष्मी का स्वर शिथिल पड़ने लगा, पर व्यंग्य कम होना नहीं चाहता था :

"जिसके उमड़ते हृदय में अनन्त उमंगें खेल रही थीं, और जो जग-मग जीवन और यौवन के सपने देख रही थी, उसे जब-र्दस्ती खींच लाए इस नीरस निर्जन में—और, अब चोर की तरह, मुँह छिपाए क्यों चलते हैं हुजूर !"

बूढ़ी को अपने बेटे पर सचमुच बेहद क्रोध हो आया, हिल-डोल कर मन ही मन उसने कहा—'कैसा कायर पैदा हुआ यह मेरी कोख से !'

लक्ष्मी की दृष्टि खिड़की से बाहर गई, और आकाश में भादों

के उमड़ते बादलों को देखकर, उसके उद्‌गार कविता की भाषा में निकलने लगे :

"देखो, उधर—आकाश में रस-भार से झुका हुआ वह बादल-दल, भूतल की छाती पर बरस पड़ने को, क्यों धूम मचाए हुए है—क्यों बौखलाया-सा वह उमड़-घुमड़ रहा है ?"

यथार्थ ही, मन्त्र-मुग्ध-सा, वह पुरुष देखने लग गया उधर—दूर पर घिरती उस काली घन-घटा को। अज्ञानी वह भले ही रहा हो, पर हृदय तो रखता था अनुराग-भरा मानव का—जिसे प्रकृति कम नहीं फुसलाती है। और वह था भी तो किसान—जिसका प्रकृति के साथ सतत साहचर्य बना रहता है। फिर घन-घटा उसे आकृष्ट क्यों न करती ?

लक्ष्मी उसी आवेश में, बेहोश-सी बनी, कहती गई :

"वह देखो—उसके काले पर्दे को चीरती-फाड़ती, चमक-दमक से भरी वह चपला, लंबी लोल लता की तरह, किस बेचैनी से कौंधती और भागती फिरती है ! इसका मानी-मतलब कुछ समझते हो, या नहीं ?..."

सचमुच पुरुष ने, नारी के नेत्रों में भी, वही कौंध देखी; और वह, अनजान में ही, रोमांचित हो उठा। लेकिन नारी की नजर तबतक दूसरी ओर घूम चुकी थी।

बूढ़ी सास की समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था—"पागलों की तरह वह क्या अनाप-शनाप बकती जा रही है ?" वह कुछ बुद-बुदाई और उठ बैठी।

और, वह तन्मय नारी पुलकित होती, अवारित वारि-वर्षण की भाँति, बोल रही थी :

"इधर देखो—दूर क्षितिज-रेखा पर घन-संघर्षण का वह क्या खेल हो रहा है—जैसे मुख से आग उगलता, कोई लुकता-छिपता बालक दौड़ लगा रहा हो। क्या वैसा कोई 'लौका' तुम्हें अपने पास नहीं दीखता है ?..."

जब जमाने की चोट खाई वह खूसट बूढ़ी ही इसे न समझ सकी, तो उसका वह भोला सपूत भला यह कविता क्या समझने लगा ? लेकिन उसकी शर्मीली आँखों का संकोच कुछ-कुछ खुलता अवश्य जा रहा था; और वह लक्ष्मी के मुख की ओर, जब-तब, पलकें उठा-उठाकर देख भी लेता था।

हठात्, खिड़की की ओर से नजर हटाकर, लक्ष्मी उसकी आँखों में गौर से देखने लग गई, और देखते-देखते उसमें एक अविश्वसनीय विरक्ति नाच उठी।

नारी के अंचल को चंचल करने वाली हवा रुक गई थी—जैसे किलकारी मारते हुए चपल बालक को कोई जोर से डाँट दे, और वह सहसा सिटपिटा जाए।

"इधर देखो—मेरी ओर।" अचानक मुड़कर मदहोश-सी लक्ष्मी कहने लगी—"क्या यों तड़पाने के लिए ही मुझे ले आए हो इस जंगल में ?..."

सुन्दरी के रस-सिक्त अरुण होठों पर एक विचित्र मुसकान फैली, और उसकी वाणी चुभीले व्यंग्य बरसाने लगी—"गँठबन्धन

कराकर, गाजे-बाजे के साथ, आ बैठे थे मेरे साथ उस मह-मह मंडप में; और मन्त्रों के कोलाहल के बीच ढिठाई के साथ मेरा हाथ पकड़ा लिया था; और निर्लज्ज-सा, समाज की क्रीड़ा-व्रीड़ा के बीच, 'कोहवर' रचाया था निशा की नीरवता के आवरण में''सोचा भी था—कि जिसके लिए यह सब स्वाँग रचा रहा है, उसके अन्तरतम में कैसी आँधी उठ रही है ?''"

खाट में घुलटती हुई बूढ़ी का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया; और जैसे 'हलो-हलो' की रट लगाता कोई भला आदमी, झल्लाकर, टेलीफोन का चोंगा पटक दे—उसने भी किसी को मन-ही-मन कोसा; और, पर्दे के उस ओर से, अपने कान हटा लिए।

दुर्भाग्य''आवाज तब भी आती रही उसके कानों में :

"तो अब धर्म और समाज-सम्मत अपना पवित्र अधिकार क्यों न जमाते हो इस अचला सम्पत्ति पर ? वह तो झुकी हुई है तुम्हारे पाद-पद्मो में—अपना सर्व-संभार लेकर ! उसे कृतार्थ क्यों न करते, महानुभाव ?"...

कहकर लक्ष्मी एकटक उसका मुख देखने लगी, और देखते-देखते उसका व्यंग्य अब विपाक्त हो गया—"जीवन और मरण के मेरे स्वामी, ले आओ कहीं से एक भोथी छुरी, और बोल दो—बिस्मिल्लाह ! यह गर्दन हाजिर है, जरा भी चें-में नहीं करेगी'' संकोच और चिन्ता किस बात की, महाप्रभो ?''मेरे पूज्य माँ-बाप ने इसका दवामी पट्टा तो तुमको लिख ही दिया है, पंडित-पुरोहितों ने वेद-मन्त्रों से उसे पूत भी बना दिया है, और ढोल-

मृदंग-शहनाई आदि बजाकर सारे समाज ने उसपर अपनी स्वीकृति की मुहर भी लगा दी है! फिर मुझ पर दखल जमाने में तुम झिझकते क्यों हो, मेरे देवाधिदेव ?...”

अँधेरे घर में, कछुए-सी अपने अंगों में सिकुड़ी, वृद्धा सास के कलेजे पर जैसे साँप लोट रहा हो! न चाहते हुए भी उसे सब कुछ सुनना पड़ा। पुरुष पर तो कोई असर नहीं दीख रहा था उस जहर का, पर बूढ़ी तिलमिला उठी, और रस्सी-सी तन गई। कैसा भी था, वह उसका पति था; और उसी स्वामी को समझदार स्त्री यों विष-बाणों से भोंक रही थी! सास की सहानुभूति का स्रोत उलटकर सहसा बेटे की तरफ बहने लग गया।

आखिर माँ का ही हृदय तो ठहरा! पिघलता क्यों नहीं ?

भाव-विभोर लक्ष्मी के कुटिल-मृदुल बाण तेजी से छूटते ही रहे :

“...अरे, धर्म तो तुम्हारा वकील है न, स्वर्ग की सनद भी तुम्हारे हाथ में है! फिर परवाह काहे की ? किसी का कलेजा कटता हो, कटने दो—उधर नजर न उठाओ। किसी के अरमानों के बाग उजड़ते हों, उजड़ने दो—तुम, धीर-वीर की भाँति, उसके सारे मीठे फल दोनों हाथों तोड़ लो।...घबराते हो क्यों—मेरा रक्त भी निचोड़ लोगे, तो भी तुम्हें कोई दोषी न ठहराएगा!... अरे, अति प्राचीन धर्म जो तुम्हारी पीठ पर खड़ा है—उसने तुम्हें मेरे इसी जन्म का नहीं, जन्म-जन्म का भी, स्वामी बना दिया है—ईश्वर से भी ऊँचा उठा दिया है! अब भूमिसात् दासी के इस हाड़-माँस वाले अधम शरीर को, अपने पावन पाँवों से,

शान-शौकत के साथ, कुचलते क्यों न चले जाते हो ?"

अन्तिम वाक्य कहते-कहते, भावावेग के कारण, लक्ष्मी की साँसें फूलने लगीं और वह थक-सी गई। इसलिए खिड़की के पास जाकर वह कुछ सुस्ताने लगी।

उधर बूढ़ी, कोई आहट न पाकर, अत्यन्त उत्सुक हो उठी—अब क्या करता है उसका लाल, देखने को वह अधीर होने लगी—आह, कितनी व्यग्रता थी उसके मन में; अगर यह दीवार आज जालीदार चादर में बदल जाती !

अपराधी की भाँति नत-सिर खड़े सुब्रह्मण्यम् को कुछ मौका मिला; और इधर-उधर नजर दौड़ाते, धीरे-धीरे दरवाजा खोलकर, वह उस कमरे से नौ दो ग्यारह हो गया।

लक्ष्मी को आहट मिली; वह घूमी, और जड़वत् यह दृश्य देखती रह गई। पर बूढ़ी अपने सपूत की वह बहादुरी बर्दाश्त न कर सकी—बड़-बड़ाती उठी, और डाँटकर बोली :

"कहाँ भागा जाता है, अभागा ?"

चौखट से टकराती, गिरती-उठती, वह आँगन में आई; परन्तु तब तक उसका बहादुर बेटा आँखों से ओझल हो चुका था ! सिर थामकर वह वहीं थसक गई। पलभर मे सास की सहानुभूति का स्रोत पलटकर पुनः पुतोहू की ओर बहने लगा।

मन की गति भी कैसी रहस्यमयी होती है—कभी उलटी, कभी सीधी !

लक्ष्मीने, क्षोभ से उच्छ्वसित होकर, अपनी चोटी के हँसते

-फूल नोंच डाले, एक झटके में चमचमाती चूड़ियाँ निकाल फेंकीं, जरी के आँचल फाँड़ डाले; बेतहासा दौड़ी, और धम्म से पलंग पर जा गिरी!

हठात् हवा तेज हो उठी—और फटाफट कमरे के खिड़की-दरवाजे बार-बार बन्द करने और खोलने लगी। चारों तरफ से काली घटा उमड़ आई; और देखते-देखते, तीर की तरह धरती के कलेजे को छेदती, बारिश होने लगी।

यौवन में मद होता है :

मकरन्द से भरा पुष्प, अपने कोमल विकसित पर्णों से, गुंजित मधुपों को अपने हर्षोत्फुल्ल हृदय में छिपा लेता है। पुष्प-भार से विनम्र लहलहाती लतिका, लपककर, ऐंठकर, स्वागतोत्सुक शाखाओं से लिपट जाती है—उन्हें अपनी धड़कती छाती में जकड़ लेती है। उद्वेलित उदधि, अपनी अनन्त उमड़ती ऊर्मि-मालाओं को चन्द्र-किरणों पर चढ़ा देता है—चन्द्रमा को अपनी गोद में खींच लेता है। फिर लहरों और चन्द्र-ज्योत्स्ना का जो मोहक खेल शुरू होता है—वह देखते ही बनता है। उस दृश्य को देखकर कवि देह-भान भूल जाता है और वह कल्पना-लोक में जा बसता है, साधक सहसा ध्यान-मग्न हो जाता है, और सृजनशील कलाकार इच्छित वरदान पा जाता है। दुनिया मुग्ध मन से उसे निहारती रह जाती है। सूर्य की रम्य-रश्मियाँ आकाश से उतरकर कोमल कमलिनी के पास आ बैठती है, और उन्हें

अपनी मृदुल उँगलियों से गुद-गुदाने लग जाती हैं। बस, कमलिनी हँस देती है, उमंग से भर जाती है; और, उन मंजुल किरणों को अपने पुलकित वक्ष से लगाकर आँखें मूँद लेती है।

फिर देखिए, वे मरीचियाँ किस मद-मस्ती से नाचने लग जाती हैं—उन खिले और उत्सुक पर्ण-पुञ्जों के ऊपर!

नूतन नवनीत-सी मुलायम, मनहर किसलयों से आच्छादित आम के पेड़ की डाली पर मृदुल-मंजुल कृष्ण कोकिला अपनी चोंच सटाकर, जब पागल की तरह कूकने लग जाती है, तब कठिन काठ से भी कोमल कलियाँ फूट पड़ती हैं, और सुगन्ध से सनी मंजरियाँ, कूक से काँप कर, तन-मन की सुधि विसारकर, उस काली कोयल पर ही झूम जाती हैं—अपनी धड़कती गोद में उसे छिपा लेती हैं।

प्रकृति के आँगन में होने वाले नित्य-नूतन यौवन और अनंग के ये सब खेल निर्बाध रूप से चलते रहते हैं, और मानव-जाति के बेलगाम मन को और भी चंचल बना देते हैं!

मधुमास की मदनोद्राविनी हवा जब सन-सनकर चलने लगी, तब समस्त जड़-चेतन के प्राणों में एक अपूर्व भूख-प्यास जाग उठी, और लक्ष्मी के अंग-अंग से एक ऐसी लहर पैदा हुई—जो उसके सारे संयम को बिखेरकर, उसकी नस-नस में एक उच्छृंखल उत्तेजना भरने लगी। उसके रसीले नयन भूतल से अन्तरिक्ष की ओर उठे, और क्षितिज-रेखा पर घूमकर, निराश

लौट आए। उसने एक दीर्घ साँस ली, और आवेग-आकुल अंगों को मरोड़, हथेली से हथेली को रगड़ती, उत्फुल्ल छाती को दोनों भुजाओं से कसकर, वह एक अजीब दर्द से कराह उठी :

"कैसी प्रबल होती है मनः-प्राण की यह अनंग-पीड़ा! और यह संयत शरीर को इतना बेचैन बना देती है! प्रभो, कौन रक्षा करेगा मेरी कुड़कती भट्ठी की इस आग से—यह आग, जो शीतल सर्प की तरह दौड़ रही है मेरी धमनियों में, और मुझे नादान की नाईं बौखलाए देती है! क्या यह भूख-प्यास मुझे भी, चाबुक मार-मारकर, उड़ा ले जाएगी लालसा की लोल लहर में?...ओह! कैसा भयानक पतन होगा तब एक ज्ञान-गरिमा वाली नारी का? नहीं, नहीं; ऐसा नहीं हो सकता। मैं पढ़ी-लिखी हूँ, और एक बड़े बाप की बेटी हूँ, जिसने माता-पिता की इच्छा से यह आत्म-बलिदान किया है। नहीं, मेरी ऐसी दुर्गति नहीं हो सकती। मैं यौवन के इस मुँह-जोर घोड़े के मुँह में जबर्दस्त कँटीली लगाम लगाऊँगी, और बेरहमी से कोड़े मार-मारकर, इसे वश में करूँगी—इसकी सारी चंचलता के पाँव तोड़ दूँगी, और इसकी क्षण-क्षण में मचलने वाली आदत ठीक कर दूँगी! नहीं, मैं काम की चेरी नहीं हो सकती। मैं मनस्विनी नारी हूँ; क्षण-भंगुर लालसा की दुनिया मुझे अपनी दासी नहीं बना सकती!..."

यों लक्ष्मी अपने तीक्ष्ण ज्ञानांकुश से उस मद-मत्त अनंग की उकसाहट को, धौंकनी-सी चलती और जलती छाती को, दोनों

बाहुओं से बाँध, संकल्प-शुद्ध मन से उठी; और एक विचित्र स्वाद-तोप से भरी, पलंग पर जाकर, परमात्मा की गोद में सो गई।

उधर, कुएँ की जगत पर बैठा वह पराक्रमी पुरुष, अपने-आप सवाल-जवाब कर रहा था—निशा के गम्भीर आवरण में छिप कर :

"क्या करूँ ?—किससे पूछूँ ?—कुछ भी सूझता नहीं मुझे। क्या कहूँ ? सच तो यह है, कि जाने क्यों—मैं उससे डरने लगा हूँ। उसके सामने जाते ही मेरा कलेजा थर-थर काँपने लगता है। सरल भाव से देखने पर भी, मुझे ऐसा लगता है, मानों वह मेरी हँसी उड़ा रही हो !"

इतने में गाँव का चौकीदार दरवाजे पर आकर, लाठी पटकता, पुकार उठा—'होशियार—जागते रहो !'

सुब्रह्मण्यम् सहसा चौंक उठा, और फिर सँभल कर सोचने लगा :

"और··

और, जब वह निर्भीकता से मेरा हाथ पकड़ लेती है, तब तो मुझे काठ ही मार जाता है ! और जब आँखों में आँख डालकर सवाल करने लग जाती है, तब तो मैं हत-बुद्धि ही बन जाता हूँ ! क्या जवाब दूँ, क्या कहूँ—कुछ भी सूझता नहीं ! उस समय तो यही मालूम होता है—जैसे मैं किसी हाकिम के इजलास के कठघरे में खड़ा हो गया हूँ !"

सुब्रह्मण्यम् को गहरी आत्म-ग्लानि घेरने लगी और उसका काला मुँह कुछ और काला हो गया :

"बहन-बहनोई का वैसा प्रबल आग्रह था—नहीं तो ऐसा अनमेल सम्बन्ध कहीं हुआ है ! कहाँ वह, और कहाँ मैं—है कोई समता हम दोनों के बीच ? वह देव-बाला और मैं दुष्ट दानव !"

फिर उसकी धूमिल दृष्टि मे लक्ष्मी आ खड़ी हुई, और वह मन-हीं-मन उसे सम्बोधन करने लगा :

"और लक्ष्मी, तुम्हारे सामने आने पर दूसरे भाव तो मुझमें उठते ही नहीं ! कभी-कभी खूब सोचकर, साहस करके आता भी हूँ; पर विवश लौट जाता हूँ। देखता हूँ—तुम मुझ पर हँसती हो, चिढ़ती हो, घृणा करती हो; लेकिन बाहर कुछ नहीं निकालती हो ! तुम्हारा भाव कोई समझे या न समझे, पर मैं कैसे नहीं समझ सकता ? तुम मेरे आगे तन लेकर आती तो हो, पर मन तुम्हारा जाने किस मिचलाहट से भरा रहता है ! अरे, तुम्हारे समर्पण और घृणा की उस अद्भुत लौह-दीवार को मैं कैसे तोड़ूँ, लक्ष्मी ? अतल गहराई से उठने वाला वह दर्द मैं किससे कहूँ, देवी ?···तुम्हारे व्यंग्यों की बौछार मैं कैसे सहूँ ? अंग-अंग बर्फ बन जाते हैं, आशा-अभिलाषा, पानी बन कर, बह जाती है !"

निराश होकर वह वहीं कुएँ की जगत पर लेट गया, और मौन अन्तरिक्ष, सहानुभूति से भरकर, उस पर आँसू चुआने लगा।

यों दिन पर दिन आते और चले जाते थे, और वह अभागा बराबर घर से भागता फिरता था।

इधर लक्ष्मी ने भी अपनी चाल बदल दी। सुकुमारता, विलासिता, राग-रंग—जवानी की सभी खुराफातों को तन-मन से तिलांजलि देकर, वह जी-जान से सास की सेवा में लग गई।

अब वह सास को घर का कोई काम करने नहीं देती है। पहले शाम को अक्सर वह वीणा बजाती थी; पर अब सास के पैर पलोटती, उनके सौभाग्य-समय की कहानियाँ बड़ी उत्सुकता से सुनती रहती है। सास के आग्रह से वह 'गजेन्द्र-मोक्ष' की कथा अब बड़े प्रेम से गा सुनाती है। आह, उसका वह सुरीला कंठ—किससे तुलना की जाए? बूढ़ी वह कथा सुनकर आँसुओं से भींग जाती थी।

दोपहर को उपन्यास न पढ़कर, अपना फूल-शृंगार न रचा-कर, वह बूढ़ी के चरखे को ठीक कर देती है, मचिया लाकर रख देती है, और बड़े मनोहर ढंग से रामायण-महाभारत पढ़ सुनाती है। आश्चर्य—नौकर 'सायबू' भी सुनता-सुनता वहीं सो जाता था—अपना घर-बार भूल कर। पास-पड़ोस के लोग घर से निकल कर सड़क पर आ जाते थे—उसके स्वर-माधुर्य से खिंचकर।

सुबह-ही-सुबह उठकर सबसे पहले वह 'बायलर' जला देती, गाय-बछड़े की सार-सँभाल करती, गाय को दुहती, और सास को गरम पानी से नहला देती। उनकी पूजा-सामग्री ठीक कर देती और फिर खुद नहा-धोकर रसोई के कामों में लग जाती। खाना-पीना खतम करके वह गाय-बछड़े की सुधि लेती, अपने हाथ से मल-मल कर उन्हें नहलाती, घास-पानी देती; और, फिर 'सायबू' की झोपड़ी

में जाकर उसके बाल-बच्चों की भी देख-भाल कर आती। 'सायब्' की स्त्री मालिक के घर से मट्ठा ले जाती थी, पर लक्ष्मी उसके बच्चो को गाय का दूध नियम-पूर्वक दे आती थी। उसका यह बर्ताव सबको विस्मय मे डाल देता था। वह माँ नहीं थी, किन्तु उसकी छाती में माँ का प्रभूत रस संचित था। 'सायब्' के बच्चे उसको देखते ही दौड़ आते, और लक्ष्मी निस्संकोच उन्हें अपनी गोद में उठा लेती; और घर में उन्हें साफ-सुथरा रखने की ताकीद कर आती। बूढ़ी सास को लक्ष्मी की एक यही आदत पसन्द न पड़ती, पर कुछ कहने का साहस भी न होता; क्योंकि उसका देशभक्त दामाद भी तो छूत-अछूत का भेद-भाव नहीं जानता था।

रात को भी भागवत गा-गाकर वह सास को खाट पर सुला देती, और खुद भी उसी के पास सो रहती। रात में जब कभी बूढ़ी की नींद टूटती, और यौवन-भार से लदी, पुष्प-सी खिली, उस सुन्दरी को अपने पग-तल मे लेटी देखती, तो उसका रोम-रोम सिहर उठता—'अरे, इस देवी की यह दुर्दशा! स्वर्ग-लोक की अप्सरा इस घर में आए, और मेरे पग-तल में यों लोटे!...'

बूढ़ी की आह को, चोर की तरह दबे-पाँव घर में आने वाली हवा, बहुत दूर तक उड़ा ले जाती, पर कहीं से कोई सहानुभूति न पाकर, उस पवित्र धरोहर को, फिर विवश लौटा जाती।

घर का भूखा आदमी, बाजार में आकर, हलवाई की दूकानो को ललचाई आँखो से देखता चला जाता है! और यदि

टेंट में टका न हुआ, तो सुगंध से ही पेट भरकर वह वहाँ से चल देता है ! कोई-कोई धीर तो ऐसे बहादुर होते है, कि ऋण करके भी घी पी लेते हैं ! और कुछ लोग चोरी करके भी अपनी भूख-प्यास मिटा लेने में संकोच नहीं करते—मौज के आलम में मस्त हो जाते हैं !

चित्त-वृत्ति ऐसी चंचल होती है । इसको रोक रखना जब साधु-सन्तों के लिए भी असाध्य माना जाता है, तब संयम-शील-शून्य युवक-युवतियों की चर्चा ही व्यर्थ !

लक्ष्मी युवती थी सही, पर वह विदुषी भी थी; साथ ही वह बड़े बाप की बेटी थी, और थी कुल-मर्यादा पर मर-मिटने वाली । सबसे बड़ी बात तो यह थी, कि वह एक ऐसे पिंजड़े की पंछी थी, जिसकी सीमा छोटी होती है । लेकिन उस छोटी सीमा में ही अक्सर जो अद्‌भुत दुनिया बसती है, उसके रहस्यों से कौन अनजान बन सकता है ?

मस्त नारी की उपमा मतवाले हाथी से दी गई है सही, पर यह भी झूठ नहीं, कि लोक-लज्जा का सीधा-टेढ़ा अंकुश उसके कान में लटकता हुआ उसे रास्ते पर लगाए रखता है—मन-माना पैर बढ़ाने नहीं देता । लेकिन लक्ष्मी का अंकुश अपना गढ़ा हुआ था, किसी ने जबर्दस्ती उसके कानों में नहीं लटका दिया था । इसी से वह निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व थी । और जो दुनिया की ही दृष्टि से अपने को देखती है, वही पग-पग पर ठोकरें खाती रहती है—अपने-आपको धोखा देकर !

पर, रन-बन में निरंकुश फिरने वाले मद-मस्त हाथी पर कौन काबू रख सकता ? सुब्रह्मण्यम् उसी श्रेणी में खिसकता जा रहा था, पर उसका सहज भोलापन, उसकी हीन-भावना, और उसकी सामाजिक सभीति उसे चारों ओर से घेर रही थी। लेकिन वह घेरा अनुभवियों की दृष्टि में विश्वसनीय नहीं माना जा सकता था।

लेकिन उस बेचारे को इसका बोध भी तो हो !

आस्तीन का साँप

प्रचण्ड प्रभाकर, अपनी गति-विधि में पतन-परिवर्तन देखकर, तेजी से पश्चिम की ओर भागा जा रहा था। आँगन में खड़ा हुआ सुब्रह्मण्यम्, छप्पर पर कूजन करते कबूतरों की कमनीय क्रीड़ा, उनकी अद्भुत प्रेम-लीला मग्न-मन से देख रहा था। उस दृश्य ने उसे तन्मय बना दिया। कबूतर अपने अनुपम हाव-भाव से, कोमल कूजन से, घूम-घूमकर, झूम-झूमकर, गर्दन फुला-फुलाकर, आँखें मटका-मटकाकर, अपनी प्यारी कपोती को रिझा रहा था। इतने में कबूतरी उड़ गई। इधर-उधर देखकर कबूतर भी उसके पीछे उड़ चला।

सुब्रह्मण्यम् अन्य-मनस्क हो उठा। घूमते-घूमते वह गाँव से कुछ दूर निकल गया।

पश्चिमी क्षितिज-रेखा पर, लाल गेंद की तरह, सूरज डोल रहा था। उसकी सुनहली किरणें पेड़ों की झूमती चोटियों को चूम रही थीं। गगनांगन में गुलाल की पिचकारियाँ छूटने जा रही थीं।

सहसा चहचहाती चिड़ियाँ अपने घोंसलों की ओर उड़ीं और देखते-देखते सुन्दरी सन्ध्या का सुभग शृंगार नष्ट हो गया—उसकी सूर्यकान्त मणिमाला सागर में गिर पड़ी!

चलते-चलते सुब्रह्मण्यम्, गाँव से कुछ दूर पश्चिमी सीमा

पर बहने वाली, दुबली-पतली पिनाकिनी के पास पहुँच गया। कुछ झुटपुटा हो आया था। पिनाकिनी की तेज धारा बेपरवाह जाने कहाँ भागी जा रही थी !

सुब्रह्मण्यम् उसके तट पर जाकर बैठ गया; और, नदी की धारा पर दृष्टि गड़ाए, नील जल में उछलती मछलियों की शोभा देखने लगा। मन्द-मन्द चलने वाली हवा नदी में हलकी हिलकोरें उठा रही थी। ऊँचे आसमान से उतरकर तारक-दल तरंगों पर झूला झूलने आ रहे थे। नदी अपने तन पर काली ओढ़नी ओढ़े, चुपचुप कुछ कहती-सुनती सरक रही थी। उसकी चादर पर अनेक चमकीली तारिकाएँ आँख-मिचौनी खेलने को मचल रही थीं।

सुब्रह्मण्यम्, किनारे पर उगी घास के तिनके तोड़-तोड़ कर पानी में फेंकते हुए, धीरे-धीरे नदी से बातचीत करने लगा :

"इतनी लापरवाही से कहाँ भागी जा रही हो, पिनाकिनी ? कितने दिनों का हमारा तुम्हारा साथ है। सुबह-शाम-दुपहरी को, जाने कितने दिन, मैंने तुम्हारे चंचल शीतल जल में डुबकियाँ लगाई हैं। कितनी बार वर्षा में तुम्हारी तेज धारा को चीरकर पार कर गया हूँ ! और कितनी बार ऊब-डूबकर भी तुम्हारे किनारे आ लगा हूँ।—क्या जरा सहानुभूति के साथ मेरी कुछ कहानी न सुन लोगी ? आज जरा रुककर, प्यारी, संवेदना के दो शब्द मुझे न कह दोगी ?..."

इतना कहकर कुछ क्षण वह चुप रह गया। फिर, अपने

चारों ओर सतर्क दृष्टि डालकर, धीमी आवाज में कहने लगा :

"देखो—सखी, मैं हतोत्साह होकर तुम्हारे मुक्ति-दायी अंक में शरण लेने आया हूँ। तुम अपनी शीतल गोद में इस कापुरुष को उठा लो—इसे जगत् से छिपा लो! जीकर ही अब क्या करना है?—मन की शांति न रहने पर जीना भी कैसे सम्भव है? मेरी सुधि संसार मे कोई नहीं लेता है—सर्वत्र जान-बूझकर मेरी अव-हेलना की जाती है! साहस करके, खूब सोच-विचार कर, घर में पत्नी के सामने जाता हूँ—अपना दुखड़ा रोने। लेकिन, वहाँ जाते ही मुझ पर मंत्र चल जाता है—जड़वत् हो जाता हूँ। घर से बाहर आता हूँ, तो भयंकर आँधी में पड़ जाता हूँ। वह आँधी मेरा दम तोड़ देती है!···कहाँ जाऊँ? किससे पूछूँ? कौन रास्ता बताएगा? लक्ष्मी रानी बनकर आई थी, अपनी मूर्खता से मैंने उसे देवी बना दिया! चिढ़कर, अब, वह दासी हो गई है। हाय रे दैव···"

'दैव-दैव आलसी पुकारा!'—कहता हुआ कोई सामने आ खड़ा हुआ। अंधकार घना था, हाथ-को-हाथ नहीं सूझता था—ऊपर-नीचे सिर्फ कुछ ज्योति-नयन झिल-मिल कर रहे थे। किन्तु उनसे अंधकार और अभिमानी हो रहा था—उसकी शान और बढ़ रही थी—जैसे कोई मदान्ध स्वर्ण-सिंहासन पर आ विराजे!

"कौन?"—सुब्रह्मण्यम् ने चौंककर पूछा।

"गोपाल!"—शान्त स्वर में उत्तर मिला।

सुनते ही सुब्रह्मण्यम् उठ खड़ा हुआ और उसका हाथ पकड़

कर बोला : "गोपाल,—अहा ! आओ, आओ !—बैठो ।"

हठात् कुछ सोचकर वह झट कह उठा—"चलो, घर पर ही चलो; रात अधिक हो आई है ।"

"नहीं, थोड़ी देर यहीं बैठो; थका हुआ हूँ । बड़ी सुहावनी जगह है यह ।" आगन्तुक यों कहता हुआ वहीं बैठ गया। सुब्रह्मण्यम् ने गौर से उसके मुँह की ओर देखा, पर थकावट का कोई चिह्न उसे नहीं दीख पड़ा ।

"घर से ही आ रहे हो ?"

"नहीं, विजयनगर से ।"

"क्या काम था ?"

"सब कुछ पीछे बताऊँगा । पहले यह तो बताओ, कि 'दैव-दैव' क्यों पुकार रहे थे ?"—आग्रह करके गोपाल ने पूछा ।

"कहाँ ?· ·कुछ भी तो नहीं !"—अप्रतिभ होकर सुब्रह्मण्यम् ने अस्फुट स्वर मे जवाब दिया ।

"तो इतनी रात गए, यहाँ बैठकर क्या मंत्र जप रहे हो ?"—हँसकर गोपाल ने पूछा ।

"यों ही मन बहलाने के लिए बैठा था ।"

"अच्छा, तो मनुआ नहीं मानता है—क्या चाहता है वह ? जरा बताओ भी तो सही। यहाँ नहीं, तो अब घर पर ही चलो ।"

दोनों मन मारे साथ चल दिए । घर आने पर सुब्रह्मण्यम् को पता चला, कि गोपाल दोपहर को ही यहाँ आ गया था। उसको सन्देह हुआ—'कहीं कुछ सुन-गुन तो नहीं गया है !' उसकी

भीति उभर आई।

दूसरे दिन, उसी समय, उसी नदी के किनारे, दोनों दोस्त आ बैठे।

"तुम कुछ खिन्न रहते हो!"—गोपाल ने हास-विलसित गंभीरता के साथ कहा।

"नहीं तो!"—कुछ संकुचित होता सुब्रह्मण्यम् बोला।

"मुझसे उड़ते हो!"—गोपाल ने सुब्रह्मण्यम् के गले में हाथ डाल दिया और निधड़क कह बैठा—"तुम दूसरी शादी क्यों न कर लेते हो?"

"दूसरी शादी—क्यों?"—चौंककर सुब्रह्मण्यम् बोला!

गोपाल सहसा गंभीर बन गया और धीरे-धीरे, किन्तु स्पष्ट स्वर में, कहने लगा—"यार, मैं सब कुछ जानता हूँ। माता तुम्हारी बूढ़ी हुई। लक्ष्मी तुम्हारा घर नहीं सँभाल सकती। किताब, कंघी, वीणा, उपन्यास आदि से उसे छुट्टी मिलेगी नहीं—फिर तुम्हारी सुधि कौन लेगा?···जन्म-भर गुलामी करते बीत जाएगा।"

गोपाल कुछ नम्र पड़ता बोला—"और भैया, सबसे बड़ी बात तो यह है, कि इस अप्सरा से तुम्हारा वंश न बढ़ेगा। इसकी सुन्दरता और गुण-गरिमा लेकर क्या करोगे? चार साल से ज्यादा ही गौने के होने आए—पर अब तक कुछ लक्षण नहीं दीखता!"

उसका स्वर तेज पड़ने लगा :

"हाँ, और एक बात सुनो : विवाह का प्रधान उद्देश्य होता है पुरुष की वंशवृद्धि। और अगर वही न हुआ, तो हमारा जन्म ही व्यर्थ गया! अतः जिस स्त्री से सन्तान की आशा न हो, वह कितनी ही रूपवती, गुणवती और विदुषी क्यों न हो, सुगन्धहीन सुमन की तरह, त्याज्य है! हमारे धर्मशास्त्र और ऋषि-मुनियों का यही आदेश-उपदेश रहा है। पुत्र-कामना से लोग एक-दो नहीं, अनेक विवाह करते आए हैं—क्योंकि पुत्र-हीन पुरुष की गति कहाँ? वह खुद तो नरक-गामी होता ही है, अपने पितरों को भी, तर्पण के अभाव में, तड़पाता रहता है।"

अब वह खिसककर उसके कान में फुसफुसाने लगा :

"एक रहस्य-कथा सुनोगे?—उस बड़े बाप की बेटी पर विश्वास मत रखो। उस परी का प्रेम पर-पुरुष पर है···"

सुब्रह्मण्यम् की छाती में गोली-सी लगी! अत्यन्त मर्माहत होकर वह बोला—"यह क्या कहते हो? ऐसी वाहियात बातें मैं सुनना नहीं चाहता!"

गोपाल जैसे ऊँचे पेड़ पर से गिर पड़ा। उसके मनसूबे मिट्टी में मिलते जान पड़े। लेकिन वह तुरत सम्हल गया और मृदुल होते बोला—"विश्वास नहीं होता है?"

"नहीं,—कभी नहीं!—स्वप्न में भी नहीं!"—कहकर सुब्रह्मण्यम् उठ खड़ा हुआ। घृणा और क्रोध उसके मुख पर फैल रहे थे।

"प्रमाण चाहिए?"

हाथ पकड़कर गोपाल बोला, और अपनी जेब टटोलता, हलकी हँसी को उभारता, कुछ व्यस्त हो गया। उसकी भाव-भंगिमा ऐसी थी, कि सुब्रह्मण्यम् आश्चर्य से उसका मुँह देख रहा था। जैसे उसकी साँस ही रुकती जा रही हो—क्या है यह तमाशा? कुतूहल कम था, पर भय भारी।

गोपाल ने धीरे-धीरे जेब से एक लिफाफा निकालकर सुब्रह्मण्यम् के हाथ में रख दिया; और तिर्छी नजर से देखता रहा। उसके मोटे होंठ कुछ हिल रहे थे।

"यह क्या है?"—चिट्ठी लेकर उलटते-पुलटते सुब्रह्मण्यम् ने पूछा।

"यह प्रेम-पत्र है!—आंजनेय ने लक्ष्मी को लिखा है।"

सुब्रह्मण्यम् ने जैसे कुछ सुना नहीं; एक सहज स्वर में पूछ बैठा—"तुम्हें यह कैसे मिला?"

गोपाल उसकी लापरवाही से कुछ घबराया जरूर, पर अपनी घबराहट छिपाते, कुछ रुककर, कहने लगा :

"कल जब आया, तो उस समय दरवाजे पर कोई नहीं था। तभी डाकिया एक लिफाफा मेरे हाथ में डाल गया। उसके ऊपर विजयनगर की मुहर देखकर मेरे मन में कुछ कुतूहल हुआ। शंका थी ही; चिट्ठी अपने पास रख ली—इसी समय के लिए।—अब तुम मेरी बात की जाँच कर सकते हो।"

तब तक वे घर पहुँच गए थे। अंधकार गहरा हो गया था।

बाहर दरवाजे पर हरीकेन लालटेन जल रही थी। सुब्रह्मण्यम् ने उसकी रोशनी में चिट्ठी निकाली, और चौंककर बोला :

"यह तो खुली है !—तुमने पढ़ ली है ?"

"माफ करो !"—झेंपकर गोपाल बोला।

क्रोध से भरकर सुब्रह्मण्यम् ने उस पत्र को खोला, और हताश हो गया :

"यह तो अंग्रेजी में है !"

"पढ़ दूँ ?"—खुश होकर गोपाल बोला।

सुब्रह्मण्यम् चुप रह गया : क्योंकि दूसरा कोई चारा न था।

गोपाल चिट्ठी पढ़ने तथा उसका भावार्थ समझाने लगा। काठ के पुतले की तरह सुब्रह्मण्यम् सुन रहा था; क्योंकि वह अंग्रेजी से एकदम अनजान था।

गोपाल ठहर-ठहरकर चिट्ठी को गौर से पढ़ गया, और सुस्थिर स्वर में बोला—"संदेह की सत्यता का प्रमाण दो-तीन शब्दों से ही मिल जाता है। यह देखो—'विलवेड', 'डार्लिंग' 'लव'—आदि सम्बोधन अंग्रेजी में सिर्फ प्रेमिका के लिए प्रयुक्त होते हैं।"

"सिर्फ सम्बोधन-शब्दों से क्या होता है ? पत्र का भाव तो बुरा नहीं है !"—पत्र को जेब में रखकर सुब्रह्मण्यम् फिर कुछ अतिरंजित स्वर में बोला—"एक यही नहीं, हर महीने उसके पत्र आते हैं। लक्ष्मी फाड़कर फेक देती है। कभी पत्र का जवाब भी नहीं देती ! कई बार मैंने कहा भी, कि पत्र का जवाब दे देना

चाहिए; लेकिन उसने कभी उधर ध्यान नहीं दिया।…यह तो मैं खूब जानता हूँ, कि दोनों में स्नेह है,—लेकिन स्नेह को 'सन्दिग्ध' कैसे मान लिया जाए, भाई ?"

गोपाल घोर असमंजस में पड़ गया; सुब्रह्मण्यम् को जैसा उसने समझा था, वैसा सीधा नहीं निकला। उसने फिर जोर लगाया :

"तुम स्त्रियों के चरित्र को नहीं समझते हो, साधु पुरुष हो। तब क्या वह पागल है, कि लिखता है—'रिसीव्ड योर लव-लेटर—अर्थात् तुम्हारा प्रेम-पत्र मिला।'—भई, इस पत्र में गूढ़ इशारे भरे हैं, तुम क्या जानो !…अच्छा, इसी पद को समझो तो जरा—'लोकाचार ने मेरी वस्तु छीनकर दूसरे को दे दी है, भगीरथ-प्रयत्न करके मैं उसे अवश्य वापस लूँगा।'—कहो, क्या समझे ?"

सुब्रह्मण्यम् चुप-चाप उसका मुँह देखता रह गया। लेकिन उसका हृदय एक विचित्र उथल-पुथल से भर गया था।

उत्सुकता को छिपाते गोपाल बोला—"सच कहोगे—एक बात पूछूँ ?"

सुब्रह्मण्यम् विस्मय से देखता बोला—"पूछो।"

बड़े लाड़ से गोपाल ने कहा—"नहीं, पहले प्रतिज्ञा करो।"

सुब्रह्मण्यम् अत्यन्त अस्फुट स्वर में बोला—"करता हूँ।"

गोपाल एकदम धीमे-धीमे कहने लगा—"तुम लक्ष्मी के सामने कभी जाते भी हो ?"

सुब्रह्मण्यम् चुप हो गया इस प्रश्न पर, लेकिन गोपाल उसे बढ़ावा देकर बोला—"हिचको मत; सच बता दो। मैं तो तुम्हारा मित्र हूँ : और, याद रखो; मैं सब कुछ जानता हूँ।"

सुब्रह्मण्यम् ने अचरज से कहा—"तो फिर पूछते हो क्यों ?"

गोपाल—"तुम्हें सचेत करने के लिए।···अच्छा, कहो—उसके सामने क्यो नहीं जाते हो ?"

सुब्रह्मण्यम् ने मुँह फेरकर कहा—"यों ही।"

गोपाल—"सच कहो, क्या इच्छा नहीं होती है ?"

सुब्रह्मण्यम् चिन्तित मुद्रा से देखता रह गया—उसे कोई जवाब न सूझा।

गोपाल बिहँसकर बोला—"तो फिर कन्नी क्यो कटाते हो ?"

सुब्रह्मण्यम् कुछ सोत्साह बोल उठा—"वह देवी है—उसका तेज मैं सहन नही कर सकता हूँ !"

गोपाल कुटिल उपेक्षा से कहने लगा—"अरे, वह देवी नहीं, दानवी है—मायाविनी है !—तुम पर उसने कोई मन्त्र डाल दिया है !"

सुब्रह्मण्यम तिलमिला उठा। वह सोचने लगा—"क्यों इससे बातें बढ़ाई ? इसे तो, ऐसी बातें चलाते ही, अपने पास से उठा देना चाहिए था। कैसी बेवकूफी हुई मुझसे !"

गोपाल ढिठाई से सुब्रह्मण्यम् के कान में लग गया—"मित्र, तितली के रूप-रंग के जाल में मत पड़ो। वह तुम्हारा सर्वनाश कर देगी। वह आंजनेय को चाहती है। याद रखो, वह अंग्रेजी

पढ़ी-लिखी है—क्या नहीं कर सकती है ?"

सुब्रह्मण्यम् क्षुब्ध होकर बोला—"ओह ! हाथ जोड़ता हूँ, ऐसी वाहियात बातें मुँह से मत निकालो—गालियाँ मत दो।"

गोपाल पर मानों वज्र-पात हुआ ! सुब्रह्मण्यम् उसका चेहरा देख कर कुछ सहमा और अनुनय के स्वर में कहने लगा—"देखो गोपाल ! आखिर तुम चाहते क्या हो ? उस बेचारी के पीछे क्यों पड़े हो ? उसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ? मुझ पर शंका का भूत क्यों चढ़ा रहे हो ? मेरा सत्यानाश क्यों सोच रहे हो ? जो वास्तव में देवी है, उसे दानवी क्यों बना रहे हो ?···मैं अभागा हूँ। मैंने उसपर घोर अत्याचार किया है। अमीर, पढ़ी-लिखी, और फूल-सी सुकुमारी को लाकर मैंने एक दरिद्र की झोपड़ी में डाल दिया है ! फिर भी वह कुल-मर्यादा का पालन कर रही है। मेरे घर में एक साधारण स्त्री के समान रहती है। घर का सब काम-काज सम्हालती है। सास की सेवा-टहल मन लगाकर करती है। वह सती है, साध्वी है—उसे तुम असती क्यों साबित करने चले हो ?—मेरी सुख-शांति क्यों छीने ले रहे हो, भाई?··"

गोपाल की वाणी मखमली व्यंग्य से भर गई—"भाई, तुम तो बड़े सुख में हो !—फिर अँधेरे में नदी-तट पर बैठे मंत्र-जाप क्यों कर रहे थे ?—घर-द्वार छोड़कर यों मारे-मारे क्यों भटक रहे हो ?"

सुब्रह्मण्यम् सहसा क्रोध से बौखला उठा; और बगैर सोचे-समझे, जो मन में आया, कहता गया :

"गोपाल, तुम तो भेदिया जान पड़ते हो। मेरा घर फोड़ने आए हो! मित्र होकर ऐसी दुष्टता करते तुम्हें शर्म नहीं आती? पति-पत्नी के बारे में यों निर्लज्जता से बातें करते तुम कुंठित नहीं होते हो? दलाली करते-करते, बाजार में लुच्चे-लफंगों के साथ रहते-रहते, तुम ऐसे. बेहया बन गए हो!···मैं हजार मूर्ख हूँ, पर तुमसे कही अच्छा हूँ। मैं किसी का बुरा नहीं चाहता। किसी के छाए-घर पर जलती दियासलाई नहीं छोड़ता। मेरे घर की अच्छी-बुरी बातों से इतने परेशान क्यों हो रहे हो, देवता? यों आस्तीन का साँप क्यों बन गए हो, भाई?" कहते-कहते सुब्रह्मण्यम् थक-सा गया। मौन होकर अपनी वाचालता पर वह विस्मित होने लगा—'क्या-क्या कह गया मैं···?'

गोपाल ऊँचे आसमान से गिर पड़ा और बनावटी विनय से बोला—"गलती हुई, भाई! नहीं जानता था—तुम इतने बड़े कृतघ्न साबित होगे। मित्र के नाते, तुमको परम सीधा और भोला जानकर, मैं तुम्हारी भलाई के लिए यहाँ दौड़ा आया; और तुमने मेरी ऐसी खातिरदारी की!!···सच, आज-कल—

"आगे कह मृदु वचन बनाई।
पाछे अनहित मन कुटिलाई॥"

ऐसे मित्रों की ही बन आती है। कहा भी है—'साँच कहे सो मारा जाय, झूठे को जग पतियाय!' अभी वही हो रहा है! मनुष्य कितना छलिया होता है! मन में एक, बाहर एक! गिरगिट-सा कैसा रंग बदलता है?···जो मुँह से निकल गया, उसे भूल

जाओ, भाई। मौज करो तुम अपने स्वर्ग में! मुझे क्या पड़ी है, जो तुम्हारे स्वर्ग को नरक में बदल दूँ!"

कुछ रुककर वह फिर बोला—"...लेकिन याद रखना, जिस दिन चिड़िया उड़ जाएगी, और यह पिंजड़ा खाली हो जाएगा, उस दिन तुम्हारी आँखों में तारे नाचेंगे; और आओगे फिर इसी गोपाल के पास आँसू बहाने! आज हित की बात कड़वी लगती है! सच ही कृतघ्नता सबसे तेज कटार होती है। तुमने आज मेरे कलेजे को उसी कटार से चाक-चाक कर दिया है! मैं तुम्हारा मित्र हूँ, बंधु हूँ, रिश्तेदार हूँ: और तुमने मेरी ऐसी बेइज्जती की—सो भी अपने दरवाजे पर बिठाकर!"

हठात् नाटे गोपाल का गोल-मटोल चेहरा तमतमा उठा, उसकी मोटी, जुड़ी भौंहें तन गईं; और बिल्ली-सी गोल-गोल आँखें माथे पर फैलाकर, वह कठोर स्वर में बोला:

"देखना, सुब्रह्मण्यम्—मैं इसका कैसा बदला तुमसे लेता हूँ! तुम्हें कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रखूँगा। तुम मेरी ताकत नहीं जानते हो, मैं तुम्हें मिट्टी में मिलाकर छोड़ दूँगा। बिरादरी में तुम्हारा उठना-बैठना बन्द करवा दूँगा—लोग तुम्हारी सूरत भी देखना नहीं चाहेंगे। घर में कोई ऊँच-नीच हुआ, तो कोई कंधा देने वाला नहीं मिलेगा। जानते हो, तुमने अपने दरवाजे पर मेरा कैसा स्वागत किया है? देखना, इसकी पाई-पाई, सूद के साथ, वसूलता हूँ या नहीं!"

गोपाल सरोष उठा; और, हुंकार भरता, जाने को तैयार

हो गया। उसके अंग हिल रहे थे, वह उछल-कूद कर रहा था, पर उसके पाँव आस-पास ही घूम रहे थे—आगे नहीं बढ़ रहे थे।

सुब्रह्मण्यम् एकदम सर्द हो गया। उसने लपककर दोस्त के हाथ पकड़ लिए—"नाराज मत हो, मित्र !"

क्रोधारक्त गोपाल मुड़ा; और अपने शिकार की ओर घृणा की दृष्टि फेंककर, फिर तेजी से घूम गया अपने पथ की तरफ; और, भारी भूखे-बँधे घोड़े की भाँति, जमीन पर अपना भारी-भरकम पैर पटकते बोला :

"नाराज !—नहीं, नहीं—छोड़ो मुझे; मैं तुम्हें मटियामेट कर डालूँगा ! तुमने क्या समझ रखा है मुझे ? मेरे हथकंडों से तुम परिचित नहीं हो—खबरदार !!..."

हठात् बिजली-सी कड़क हुई उसकी धमकी में; किन्तु था वह उस्ताद—पूरा खेला हुआ। तुरत उसका स्वर नम्र पड़ गया, और, सुब्रह्मण्यम् की आँखों में आँख डालकर, कहने लगा :

"ओ नादान ! जिसके लिए रोएँ, उसी की आँखो में आँसू नहीं !'—तुम, तुम इतने अकृतज्ञ हो जाओगे, मैंने कभी सोचा नहीं था...ओह !! ठीक कहा है किसी कवि ने।"

सहसा उसके मुँह से तत्संबंधी अंगरेजी कविता की कुछ लाइनें निकल पड़ीं : :

"Blow, blow thou winter wind,

Thou art not so unkind as man's ingratitude,"

भयभीत सुब्रह्मण्यम् सिहर रहा था : हाथ जोड़कर, गिड़-

गिड़ाता-सा, वह कहने लगा :

"मुझसे गलती हो गई, गोपाल ! माफ कर दो—मैं तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ। मुझ से नाराज मत हो। यह घर तुम्हारा है। इसका भला-बुरा तुम देख सकते हो। तुम्हें इसका पूरा अधिकार है। तुम लोगों को छोड़कर मैं जाऊँगा कहाँ ? मेरा तो और कोई है नहीं इस संसार में—तुम्हीं लोग सब-कुछ हो। इस नासमझ पर नाराज मत हो—हाथ जोड़ता हूँ।"

गोपाल धीरे-धीरे कुछ ठंढा पड़कर, मंद-मधुर होता, समझाने लगा :

"खैर, तुम्हारी इच्छा—जो चाहो, कह लो !···मैं तो फिर भी वही कहूँगा। तुम खुद भीतर-ही-भीतर घुले जा रहे हो, पर मेरे आगे आँखें बदलते हो ! कल तुम नदी में डूबने गए थे; और अब मेरी बातें बुरी लगती हैं—आश्चर्य ! मै साफ देखता हूँ, तुम मृग-तृष्णा के पीछे दौड़ रहे हो—दौड़ते-दौड़ते दम तोड़ दोगे, पर पानी नहीं पा सकोगे ! मेरी बातें गाँठ बाँध लो। वह काली नागिन है, उसके काटे की कोई दवा नहीं। वह तुम्हारा लोक-परलोक दोनों बिगाड़ देगी। उसकी शान, उसकी अकड़, उसकी ऐंठ के आगे तुम कभी सिर उठा सकोगे ?···"

सुब्रह्मण्यम् ससंकोच सहमे स्वर में बोला :

"तुम जो कहते हो, उसमे बहुत-कुछ सचाई दीख पड़ती है।···पर वह असती है, मेरे खून की प्यासी है, षड्यंत्र कर रही है—इन आरोपों पर मेरा विश्वास नहीं होता है। अगर तुम

मेरे मित्र हो, तो मेरा समाधान करो—मेरी शंकाएँ दूर कर दो! फिर तुम जो कहोगे, मैं आँखें मूँदकर करूँगा।"

यह सुनकर गोपाल खुश हो गया—उसकी बाछें खुल गईं। मूँछोंके अधकटे बाल ऐंठता वह बोला :

"मैं तुम्हारी आँखें खोल दूँगा! देखो—मैं अभी विजयनगर से ही आ रहा हूँ। जानते ही हो, वह भी मेरा दोस्त है। उसने मुझसे सारी बातें कहीं, लक्ष्मी के कई पत्र दिखाए; और अपनी प्रेम-कहानी कहते-कहते रात बिता दी। सब-कुछ सुनकर मैंने सोचा—यह कलियुग है, और ये लोग अँग्रेजी पढ़े-लिखे हैं, इनसे सब-कुछ संभव हो सकता है!—तुम्हारी बात सोचकर मुझे दया आ गई। निश्चय किया—जैसे भी होगा, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा; इस धूर्त का शिकार नहीं होने दूँगा। इसीलिए दौड़ा चला आया। सोचा—हित की बातें जल्द तुम्हारी समझ में आ जाएँगी। पर देखता हूँ, तुम्हें समझाना आसान नहीं है!···अच्छा, यह तो कहो—तुम्हारी साली की शादी कब है? आंजनेय कहता था—जल्द ही होने वाली है।···तुम तो जाओगे ही उसकी शादी मे?"

सुब्रह्मण्यम् सहसा सूख गया और उदास मुख से कह उठा—"मैं तो जाना नहीं चाहता। वह इसी सोमवार को जा रही है।"

गोपाल ऊपरी उत्सुकता से पूछ बैठा—"तुम क्यों नहीं जाते हो?"

सुब्रह्मण्यम् अनमना होता बोला—"यों ही, तबीयत ठीक नहीं है।'

गोपाल ने उसके कंधे पर हाथ रख दिया—'नहीं, नहीं; तुम जाओ जरूर। वहाँ अपनी आँखों से देख लोगे, तो मेरी बातों पर यकीन हो जाएगा।'

सुब्रह्मण्यम ने एक गहरी साँस छोड़ी—"गोपाल ! मेरा हृदय डगमग कर रहा है। मैं पागल हो रहा हूँ। मुझे कुछ भी नहीं सूझता है। विश्वास रखो—मैं तुम्हारी नेक-नीयती पर शक नहीं करता। परन्तु मेरा मन ही नहीं मानता है। आदमी का स्वभाव भ्रम-पूर्ण होता है। संभव है, इस संबंध में कहीं कोई भारी भ्रम हो रहा हो—मैं ही भ्रम में होऊँ, अथवा तुम्हीं भूल कर रहे हो। इसी से कहता हूँ—जो भी करो, खूब सोच-विचार कर करो; कुछ करने के पहले खूब जाँच-पड़ताल कर लो, भाई···"

कहते-कहते सुब्रह्मण्यम् ऊँची भावुकता से भर गया, और आह लेकर बोला :

"गोपाल ! यह ठीक है, कि लक्ष्मी से मुझे कोई सुख नहीं है। वह ऊँचे आसमान में है; और मैं नीचे धूल की धरती पर लोट रहा हूँ ! हम दोनों में कोई समानता नहीं है। फिर दूसरी बातों की चर्चा ही फिजूल !···लेकिन, यह तो बताओ—जिसे मैं अनमोल मणि समझता आ रहा था, क्या सचमुच वह फूटी काँच है ? जिसकी मैं पूजा कर रहा था, क्या वह पापिनी है ?···मेरा दिल बेहद कचोटता है गोपाल ! विश्वास नहीं होता है उन बातों पर। आँखों के आगे चारों तरफ अंधकार छाता जा रहा है !!···"

गोपाल एकदम गंभीर होते, मुँह बिचकाता बोला—"अब मैं कुछ नहीं कहूँगा। जाकर खुद देख लो—आँखें शीतल हो जाएँगी!"

इतना कहकर वह उठ खड़ा हुआ—"अच्छा, देखो—अब पौ फट गई; कहा-सुना माफ करना, भई—मैं अब चला!"—कहकर वह सचमुच चल पड़ा।

सुब्रह्मण्यम् ने झपट कर मजबूती से उसका हाथ पकड़ लिया—"अब जाओगे कहाँ? मेरे जीवन-जहाज को तूफान में डालकर जा कहाँ रहे हो? मैं तुम्हें जाने न दूँगा। तुमको अब मेरे साथ ही रहना होगा।"

प्राची का आकाश गहरा लाल हो उठा था, मानों प्रकृति उन दोनों दोस्तों की ओर आरक्त नेत्रों से देख रही हो। तारे छिपते जा रहे थे, मानों सुब्रह्मण्यम् की सारी आशाएँ ही डूब रही हों। चतुर्दिक् मनोरम प्रकाश फैल चला था, लेकिन सुब्रह्मण्यम् के अंतर का अन्धकार कैसा घना होता जा रहा था—उसका पता किसे था!

वह गोपाल के साथ चल रहा था, पर उसे नहीं मालूम होता था, कि उसके पाँव कहाँ पड़ रहे हैं—धरती पर, या आकाश में,—या गहरी खाई में!

हाय, मित्रों का प्रपंच कितना प्रचण्ड होता है!

———

कुहेरा

कुन्दनपुर के वकीलों में 'भारतीभूपण' का नाम अग्र-गण्य था। उनकी वकालत खूब चमकी हुई थी। बैठक में रात-दिन मुवक्किलों की भीड़ लगी रहती और रुपए बरसते रहते। कचहरी का काम वह खूब मन लगाकर करते थे। इसलिए मुकदमा बहुत कम हारते थे। मान-सम्मान की कोई कमी न थी। कई साल से नगर-पालिका का चेयरमैन रहते आए थे। नगर में कहीं कोई सभा हो—अध्यक्ष-पद पर उन्हीं को बैठना होता था। वह देश-प्रेमी थे; और उस समय से देश-सेवा करते आए थे, जब देश-सेवकों की बरसाती बाढ़ नहीं आई थी। आमदनी अफरात और खर्च कम। बाल-बच्चों के नाम पर सिर्फ दो लड़कियाँ। दो पुत्र अपना ललाम मुख दिखाकर स्वर्ग सिधार गए थे। पत्नी घर के काम-काज में होशियार थी। उसमें देश-भक्ति तो नहीं, पर पति-भक्ति रोम-रोम में भरी थी। रूप-रंग साधारण था, पर पति को अपने वश में रखे आ रही थी। वह हमेशा पूजा-पाठ, नेम-व्रत, श्रवण-कीर्तन के जाल में जकड़ी-सी दीखती थी।

गाँधी की आँधी आने पर नहीं; उससे कई वर्ष पहले ही, भारतीभूपण ने अपनी चमकती वकालत छोड़ दी, और वह देश-सेवा में मग्न हो गए। यह सब होते हुए भी—विशाल उद्यान में शान के साथ खड़ा उनका विशाल भवन, कई सहस्रों

की आय वाली उनकी जमींदारी, चतुर्दिक् व्याप्त उनका धवल यश—वे सब अब भी उन्हें खूब जकड़े हुए थे।

बड़ी बेटी की राम-कहानी चल रही है। छोटी शैलजा की शादी होने जा रही है। आज उसी की चहल-पहल दीख रही है 'भारतीभूषण' के घर-बाहर।

लक्ष्मी काम की भीड़-भाड़ में बहुत व्यस्त है। पिता ने प्रबन्ध का सारा भार उसी पर छोड़ रखा है। रुपए-पैसे, नौकर-चाकर, नाई-पुरोहित, आने-जाने वाले—सब उसी का मुँह जोह रहे थे! कोई काम बिना लक्ष्मी की स्वीकृति के नहीं होता था। और सारी व्यवस्था इस चारुता से चल रही थी, कि जो देखता था, वही वाह-वाह करने लगता था।

मंगल-गान-वाद्य और मंत्र-पाठ के बीच शैलजा का पाणि-ग्रहण हुआ। दान-दहेज देकर, स्नेह-जल से सिक्तकर, लक्ष्मी ने शैलजा को ससुराल भेज दिया। शैलजा रोई नहीं—उसकी आँखें सूखी ही रहीं!

कहीं से एक ध्वनि आई :

"स्कूल में पढ़ने वाली शैलजा पति-गृह जाते समय रोई नहीं, इसका रहस्य तो समझ में आ जाता है, पर कालेज से निकली लक्ष्मी के उन मोतियों का मूल्य कौन आँके? वे मोती किन भाव-सीपियों के गर्भ में सोए थे। नीरद के किस नक्षत्र में सीप की वह लालसा-लतिका पुष्पित हुई थी—ईर्ष्या में, उल्लास

में, या वियोग-कातरता में ?···"

प्रतिध्वनि लौट आई एक सरल समाधान के साथ :

"विधि का लिखा को मेटनहारा !"

ध्वनि फिर मुखरित हुई :

"विधि ने इस बेचारी पर ही अपनी वक्र-दृष्टि क्यों डाली ?"

प्रतिध्वनि इस बार नीरव रह गई !

---

१. बात यह है, कि बेटी की विदाई में क्रन्दन-ध्वनि का जैसा बाहुल्य उत्तर भारत में देखा-सुना जाता है, दक्षिण में वैसा सस्ता व्यापार उसका नहीं होता। यह संतोष की बात है। कारण भी बहुत स्पष्ट है इसका; क्योंकि दक्षिण में दूर तथा अपरिचितों का सम्बन्ध-योग विरल ही बैठता है—अपने ही भाई-बहन की सन्तानें आपस में पति-पत्नी भी बन जाती हैं। जब कि उत्तर भारत में शायद ही कोई क्वाँरा यह जानता हो, कि उसकी शादी कहाँ होगी—एकदम अन्धकार घिरा रहता है उसके चतुर्दिक् ! इसीलिए वहाँ रोना-धोना अपार हो उठता है। दक्षिण की मामी और फूफी आसानी से 'सास' की संज्ञा पा जाती है, पर उत्तर में मातृ-कुल और पितृ-कुल की सात-सात पीढ़ियाँ बराई जाती हैं।

—लेखक

सागर में महाज्वाल

अतिथि-अभ्यागतों में हमारे सुपरिचित सुब्रह्मण्यम्, गोपाल और आंजनेय को छोड़ सब लोग यथा-स्थान चले गए थे।

आंजनेय का विशेष परिचय यों है :

भारतीभूषण की चचेरी बहन का विवाह विजयनगर के एक विशाल ऐश्वर्यशाली परिवार में हुआ था। आंजनेय का मुँह देखकर उसकी माता जो सोई, फिर न जगी। तत्पश्चात् बाप ने दूसरा विवाह कर लिया। विमाता के अभिशाप से बचाने के लिए बच्चा चचेरे मामा के घर ही पाला-पोसा गया। वहीं रहकर उसने लक्ष्मी के साथ इंटरमीडियट तक की शिक्षा पाई; और आजकल वह विजयनगर के मेडिकल कालेज में शान के साथ पढ़ रहा था।

भगवान् की मर्जी, विमाता के कोई पुत्र न हुआ। तब इकलौते बेटे के प्रति माता-पिता के शुष्क हृदय-सरोवर में पुनः स्नेह-जल उमड़ पड़ा। किसी चीज की कमी तो थी नहीं, इसीलिए लड़के ने जो चाहा, वही हुआ। था भी वह महान् मेधावी। नीचे से ही उसे जो स्कालरशिप मिलने लगा, आई. ए. तक मिलता गया। अतः किसी को उसका विलास खटकता न था। चरित्र भी उसका कुछ विचित्र ही था। लक्ष्मी के सिवा किसी अन्य अंगना पर, उसने शायद ही कभी आँखें उठाई हों।

उसके नव-यौवन वाले संभृतांग का आकर्षक सौन्दर्य, लक्ष्मी और सरस्वती की अनुपम कृपा—'मोती में मधुरता' और 'चन्दन-तरु में सुमधुर फल' की कल्पना को प्रत्यक्ष किए देती थी।

हाँ, आंजनेय अब तक अविवाहित ही था। उसके पिता के पास विवाह के कितने ही प्रलोभन-पूर्ण प्रस्ताव आए—लेकिन पुत्र का मन न पाकर, बड़ी अनिच्छा से, पिता ने सबों को रूखा जवाब दे दिया—"लड़का नहीं चाहता है: क्या किया जाए?"

"पहले मुझे डाक्टर बन जाने दीजिए"—कहकर और चरणों में प्रणाम करके पुत्र पढ़ने चला गया। उसे डाक्टर होने का बड़ा शौक था।

आंजनेय के इस दुराग्रह का रहस्य बहुत कम लोगों पर प्रकट था। अगर उसके पिता के वश की बात होती—तो आंजनेय के इस हठ की पूर्ति हो भी जाती। लेकिन लक्ष्मी तो बहुत पहले सुब्रह्मण्यम् के नाम 'रिजर्व्ड' हो गई थी। इसमें उसकी दूर-दर्शिनी माता सुभामा का जबर्दस्त हाथ था। इसलिए सब तरह से योग्य आंजनेय को निराश होना पड़ा—लक्ष्मी की आन्तरिक अनुमति रहने पर भी उसकी वह चिर-कामना पूरी न हो सकी।

भारतीभूषण भी आंजनेय का हठ पहचानते थे, पर वह पत्नी के आग्रह के विरुद्ध कभी नहीं गए थे। और होशियार सुभामा अपने मायके को भी अपनी मुट्ठी में रखना चाहती थी!

प्रेमी पुरुष स्वार्थांध समझा जाता है। वह उस डाक्टर की तरह कठोर होता है, जो रोगी की चिकित्सा, उसके घाव की चीर-फाड़ बड़ी निर्ममता के साथ कर देता है। रोगी चीखता-चिल्लाता है, उछलता-कूदता है, नश्तर छोड़ देने के लिए हाथ जोड़ता है, उसके पाँव पड़ता है : न छोड़ने पर, क्रोध में आकर, डाक्टर को गाली भी दे बैठता है; कभी-कभी बौखलाकर दुलत्तियाँ भी झाड़ देता है! लेकिन अभ्यस्त डाक्टर रोगी की इन हरकतों पर कुछ भी ध्यान नहीं देता—शान्त और सुस्थिर भाव से बैठा अपना नश्तर बड़ी तत्परता से चलाता जाता है।...घाव सूख जाने पर—वही रोगी डाक्टर के चरण चूमता है, धन और धन्यवाद से उसको निहाल कर देता है!

फिर, डाक्टर को कोई क्योंकर कठोर कहेगा ?

आंजनेय भी तो भावी डाक्टर ही था। उसने भी अपनी रोगिनी (या रागिनी ?) की चिकित्सा बड़ी तत्परता तथा बड़े कौशल के साथ आरम्भ कर दी। वह एक रहस्यमय नाटक खेलने जा रहा था, जिसमें दो ही पात्र थे,—नायक और नायिका। एक प्रॉम्पटर था, एक ही दर्शक; और आश्चर्य यह, कि इस नाटक का पता न नायिका को था, और न दर्शक ही कुछ जानता था!

खेल शुरू हुआ :

सावन की सुहावनी सन्ध्या मुसकुरा रही थी। 'भारतीभूषण' के बाग में स्वच्छन्द बढ़ी केतकी खूब खिली थी। सुरसिक समीर उन संकोची सुमनों के साथ खुलकर अठखेलियाँ कर रहा था।

सावकाश पाकर अनमनी लक्ष्मी बाग में आ गई। उसके प्रवेश करते ही, पुलकित पिंगल पक्षियों का एक झुंड फड़-फड़ाकर उड़ गया। अचानक चिड़ियों की चह-चहाहट से चौंककर आंजनेय आराम-कुर्सी से उठा; और, छत पर से झाँक कर उसने बाग की ओर गौर से देखा। लक्ष्मी पर दृष्टि पड़ते ही, तत्क्षण सज-धजकर, वह भी बाग में आ गया। फरेबी गोपाल तो उसका प्रोग्राम जानता ही था। वह सुब्रह्मण्यम् को छत पर ले गया। छत पर से वह बाग पूरा-पूरा दीखता था। ऊपर ही दोनों जने चहल-कदमी करने लगे।

पहला पर्दा उठा। निशा-सुन्दरी अपनी सुनहरी साड़ी पर चमकीली चादर ओढ़ आई थी। अन्तरिक्ष के शयनागार से निकल कर चन्द्रदेव आँखें मलने लग गए थे। उसी समय घूमता-घामता आंजनेय लक्ष्मी के पास पहुँच गया।

पीत-वसना लक्ष्मी कुसुमित मन्दार के पास, अगम्य भविष्य के गूढ़ संकेत समझने की चिन्ता करती, मौन खड़ी थी। वे बड़े-बड़े, लाल-लाल फूल जैसे उसे क्रोध से देख रहे हो!... भद्रता-पूर्वक अँग्रेजी में ही बातें करके आंजनेय ने खूब झुककर उसे प्रणाम किया। लक्ष्मी ने प्रति-नमस्कार के लिए हाथ जोड़े ही थे, कि चालाक पुरुष ने 'हाँ-हाँ' करके उसके, सुकुमार संपुट-से, दोनों हाथ पकड़ लिए; जैसे लक्ष्मी अनधिकारी व्यक्ति को प्रणाम करने जा रही हो! लक्ष्मी सरल भाव से हँसने लगी।

आंजयनेय ने साहस के साथ उसकी ठोड़ी पकड़ ली, और खिलखिलाता हुआ बाग से निकल गया।

बाग के एक कोने से एक ध्वनि उठी :

"प्रेमान्ध आंजनेय! क्या तुमने अपनी प्रेमिका का हृदय भी टटोल लिया है?"

व्यंग्य करती दूसरे कोने से दूसरी ध्वनि निकली :

"खूब कहा—चौदह साल जिसके साथ वह दिन-रात रहा, खाया-खेला, पढ़ा-लिखा, आमोद-प्रमोद किया—भला वह आंजनेय लक्ष्मी के हृदय को न जाने, यह भी कभी कोई सोच सकता है? क्या यह सम्भव नहीं है, कि इस मन-मोहन साथी पर लक्ष्मी का भी वैसा ही प्रेम हो? कहीं वह भी, जाल में पड़ी मृगी की तरह, छटपटाती और भाग निकलने के लिए चौकन्नी न बनी हुई हो!"

उसी समय सघन आम की डाली पर से अदृश्य श्यामा बोल उठी—कू ˙ ऊ˙˙ऊ!—जैसे वह कह रही हो—'क्या हृदय के तत्त्व इसी से हल हो गए?—क्या आकस्मिक आचरणों से ही अंतर का संपूर्ण सत्य जाना जा सकता है?...'

सहसा वह विशाल बाग नीरव-निस्तब्ध हो गया।

अब गगनांगन में जगह-जगह झिल-मिल नयनों की पंचायतें

बैठीं, और भूतल के कर्म-अकर्मों पर, इंगितों में ही, विचार-विमर्श होने लग गए !

कवियों ने प्रेम की उपमा अनन्त अंबुधि से दी है, और युग-युग से उसकी महिमा का गीत गाकर स्थापित किया है—"प्रेम एव परमेश्वरः !" लेकिन प्रेम के भुक्त-भोगियों का कहना है, कि संशय का एक छोटा छिद्र अगस्त्य ऋषि का समुद्र-सोख मुख-विवर बन जाता है—बात-की-बात में वह स्वल्प संशय, प्रेम के उस असीम सागर को, अपने अगम्य उदर में डाल लेता है, और प्रेमी-प्राणी जल-हीन जलचर-गण की तरह, तड़पती मछली की तरह, प्राणों पर खेलने लग जाता है !···

कवि-कल्पना प्रेम-पाश को काल-पाश से भी अधिक मजबूत बताती है—उसके कथनानुसार, नाना जन्म-मरण के चक्कर में भी प्रेम का बंधन टूटता नहीं है। लेकिन अनुभव बताता है, कि सन्देह का एक तुच्छ कीट उस बंधन को, एक ही आघात में, कुतर देता है; और वह मायावी जाल, छिन्न-भिन्न होकर, क्षण में बिखर जाता है !

देखने में आता है, कि प्रेमी-कुंभकार के विश्वास-चक्र का रचनात्मक कौशल, तेजी से घूम-घूमकर, अनेक तरह के प्रेम-पात्र गढ़ता है। वियोग की धूप में उन कच्चे बर्तनों को सुखाता है, आह की आँच में उन्हें पकाता है; फिर उनमें अपने प्राणों का आसव उड़ेलकर जड़ को चेतन और चेतन को अमर बना देता

है।—लेकिन सयानों का कहना है, कि अदृष्ट संशय-साँपिन, आँखों में धूल झोंककर, उस अमृत-घट में अपना जहरीला मुँह डाल देती है, और, अमृत को पीकर उसमें कालकूट गरल उगल देती है।

हठात् एक ध्वनि गूँजी—"तब तो प्रेमियों का गर्व वृथा है?"

प्रतिध्वनि प्रत्युत्तर ले आई—"नहीं, प्रेम आत्मा की आवाज है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। घटने-बढ़ने वाला तो कुछ और होता है, प्रेम नहीं।"

सुमन-वाटिका के बीच विहग-वृन्द बेहद कोलाहल कर रहे थे :

माथे पर, छतरी-सी धूपछाँही पूँछ फैलाकर, मयूर बोला—"प्रेम-पावस की अग-जग-व्यापी घोर घन-घटा को, बात-की-बात में, कौन उड़ा ले गया?"

विवेकी हंस ने शान्त भाव से कहा—"झंझा वात!"

चोंच खोले पागल-प्रेमी पपीहे ने कहा—"स्नेही स्वाति कब आएगा?"

कौए-से रूप-रंग वाली कुटिल कोयल बोली—"रटते-रटते रसना नीरस होने पर!"

लोलुप भ्रमर गुन-गुना उठा—"कमल खिलकर फिर क्यों सूख गया?"

सूरजमुखी—"उसमें स्नेह-जल न था।"

पद्म—"उदय लेते ही दिनकर क्यों छिप गया ?"

उलूक—"कुहरा घिर आया था !"

शुक—"रास्ते पर क्या पड़ा है ?"

सारिका—"साँप !"

इधर विश्वास-वाटिका में, छिपे परिन्दों के बीच, व्याकुल प्रश्नोत्तर छिड़े थे; और, उधर :

छत के ऊपर से, मन्दार की झुर-मुट की आड़ में खड़ी लक्ष्मी से बातें करते आंजनेय को दिखाकर, गोपाल बोला :

"देखो, दोनों किस तरह हँस-हँसकर बातें कर रहे हैं !"

सुब्रह्मण्यम् ने देखा—सचमुच आंजनेय हँस रहा था।

गोपाल—"देखो, वह धूर्त लक्ष्मी का हाथ पकड़ रहा है।"

यथार्थ ही उस समय आंजनेय ने उसका हाथ पकड़ लिया था। सुब्रह्मण्यम् ने देखा, और चौंककर पीछे हट गया।

गोपाल—"देखो, दोनों के मुँह मिल गए !"

सुब्रह्मण्यम् वह दृश्य देखने का साहस न कर सका।

गोपाल—"देखो, आंजनेय ने उसकी ठोड़ी पकड़ ली !"

सुब्रह्मण्यम् ने सच ही वह दृश्य देख लिया—और वह तमतमा उठा। घृणा से उसने मुँह फेर लिया। थोड़ी देर यों ही खड़ा रहा। फिर उसने दोनों हाथों से अपनी आँखें मींच लीं ! क्रोध से उसका शरीर थरथरा रहा था। मुरेड़ को पकड़कर वह बोला—"गोपाल ! अब मुझे कुछ मत दिखाओ—मुझे चक्कर

आ रहा है। मैं गिर जाऊँगा—मुझे सम्हाल लो !"

माथा थामकर लड़खड़ाता-सा वह छत पर बैठ गया। कुछ देर यों ही बैठा रहा; फिर सिर उठाकर गिड़-गिड़ा उठा—"मुझे कहीं छिपा लो, गोपाल ! मैं उसे अपना मुँह नहीं दिखाना चाहता। मेरी लाज बचा लो, भाई···"

गोपाल झट से नीचे उतर गया।

सुब्रह्मण्यम् कुछ सम्हल ही रहा था, कि फिर दोनों दोस्त ऊपर आ धमके। और आते ही आंजनेय ने हँसकर पूछ दिया—"हताश क्यों दीखते हैं, मामूजी ?"

सुब्रह्मण्यम् ने कोई जवाब न दिया—मुँह फेरकर वह दूसरी ओर देखने लगा।

आंजनेय गोपाल की बाँह पकड़कर झकझोरने लगा—"तुम तो सब कुछ जानते हो···कुछ बताओ न, भाई ?"

भोला बनता गोपाल शीघ्रता से बोल उठा—"एक जरूरी बात कहनी है तुमसे; चलो—हम नीचे चलें।"

गोपाल उठा—और आंजनेय को घसीटकर नीचे ले गया।

चाँद पहाड़ों में छिप गया था। आसमान में फैली चाँदनी भी अन्धकार में खो गई थी। अष्टमी की अँधेरी सारी सृष्टि पर अपना साम्राज्य फैलाने लग गई थी। गहरे अंधकार में तारों की चमचमाहट बहुत भली मालूम होती थी। तिमिर की

उस धवल अगम गहराई मे वे तारे मलिन कमल और कुमुद-दल के सदृश डोल रहे थे !

उन दूर के दीपकों पर सुब्रह्मण्यम् को वेहद झल्लाहट हो आई; क्योंकि उसके अन्तर-आकाश के सभी आशा-दीपक बुझ गए थे—कहीं कोई प्रकाश-रेखा बाकी न थी। वह ऊँचे करारे से गिरकर जैसे आवर्त-भरे गहन गर्त में डूबता चला जा रहा था।

ओह, किस दिङ्मूढ़ मानव ने ऐसा घुप तमस कभी देखा होगा ?

उधर स्तब्ध, आधी रात; इधर एकान्त कोठरी में :

गोपाल, संकुचित नयन-मन से नोटो को गिनते हुए कह उठा—"इतना ही ?···कुछ और दो न—इससे तो काम नहीं चलेगा।"

लापरवाही से आंजनेय बोला—"अभी इतना ही। काम हो जाने पर बाकी पाँच और गिना लेना, भई। पहले उसका व्याह तो हो जाए; तव वह सब ओर से लाचार हो जाएगी।···बताओ—साध सकोगे न ?"

गोपाल ने मुट्ठी बाँधी, हाथ चमकाया और चक्षु-गोलकों को नचाकर कहा—"यह तो मेरे बाएँ हाथ का खेल है, आंजनेय ! देखोगे—अब मैं कैसा नाच नचाता हूँ उस वुद्ध को !"

आंजनेय गोपाल की मुट्ठी गरम करके विजयनगर चला

गया; गोपाल नोट सम्हालकर फिर, उस कराहते सुब्रह्मण्यम् का सिर सहलाने, ऊपर आ गया—"क्या सोच रहे हो, भाई ?"

"धूर्तों की चाल-बाजियाँ !" सिर उठाकर सुब्रह्मण्य ने अत्यन्त तिक्त स्वर में कहा।

गोपाल ने सिर हिलाया—"हाँ, हाँ; वह तो भारी धूर्त है ही !"

लेकिन सुब्रह्मण्यम् की तीक्ष्ण दृष्टि उसे वेध रही थी।

सुब्रह्मण्यम् घृणा से रस्सी की भाँति ऐंठ गया—"और तुम क्या महात्मा हो ?"

गोपाल ने चौंकने का नाट्य किया—"मैं···मुझे भी धूर्त कहते हो ?"

सुब्रह्मण्यम्, गर्दन घुमाकर, तीव्र स्वर में बोला—"तुम तो धूर्त नहीं—धूर्तराज हो !" और मुड़ेर के बाहर झुककर जोर से थूक दिया—जैसे गोपाल पर ही थूका हो।

गोपाल एकदम उदास हो गया और घुटकते बोला—"कैसे··· साबित करोगे ?"

सुब्रह्मण्यम्—"तुम्हीं उसे बहकाते हो !"

गोपाल के मुँह का रँग एकाएक बदल गया, पर उसने तुरत अपने को सम्हाल लिया; और, 'चोर का मुँह चाँद-सा' बनकर बोला—"यह तुम ठीक कहते हो। तभी तो मैं तुम्हें सचेत करता हूँ। नहीं, तो तुम उसके इन हथकंडो से कैसे परिचित होते, भोले भाई ?"

सुब्रह्मण्यम् पर जादू हो गया; वह अतीव भोलेपन से बोला—"सच ही तुम मेरे मित्र हो?" फिर आतुरता से गोपाल का हाथ पकड़कर उसने पूछा—"मुझे गड्ढे में तो नहीं ढकेलोगे न, गोपाल?"

गोपाल अपनी आन्तरिक आह्लाद को छिपाते और कुछ अप्रतिभ होते कहने लगा—"अब मैं कैसे कहूँ? मौके पर तुम खुद परख लेना। सोने की जाँच आखिर कसौटी पर ही तो होती है!"

सुब्रह्मण्यम् ने शंका-मिश्रित सारल्य से देखकर कहा—"कसम खाओगे, गोपाल?"

गोपाल सोत्साह चिल्ला उठा—"एक दो नहीं; कहो तो एक सौ कसम खा जाऊँ, भाई!"

सुब्रह्मण्यम् ने आसमान की ओर भय-भक्ति से देखा, और गोपाल की छाती पर अपना हाथ रख दिया—"उन सर्वदर्शी तारों को साक्षी देकर कहो—"मैं तुम्हारी बुराई नहीं करूँगा।"

गोपाल ने शुद्ध साधुता का अभिनय करते कहा—"बुराई नहीं, मैं तुम्हारी ऐसी भलाई करूँगा, जिससे तुम्हीं नहीं, तुम्हारा सारा वंश भी धन्य हो जाएगा।"

सुब्रह्मण्यम् ने सुख की साँस ली; और, एकदम हलका-फुलका होकर बोला—"अब कहो—इस आफत में मेरा बेड़ा कैसे पार होगा?"

गोपाल ने, धीरे-धीरे जेब से कुछ निकाला, और फिर चम-

कती आँखों से दिखाकर बोला—"यह देखो—पाँच सौ का नोट उससे झटक लाया हूँ। नेकलेस बनवाकर देने को कह गया है।"

सुब्रह्मण्यम् ने मुँह बा दिया—"नेकलेस—किसके लिए ?"

गोपाल ने हँसकर कहा—"अबतक भी नहीं समझते हो—कैसे भोले हो !—अरे, और किसके लिए ?...सारी बातें सुनकर काठ हो जाओगे ! पाँच सौ और दे रहा था—एक और काम के लिए, पर मैं राजी न हुआ। समझाया—'उस निरपराध, साधु-पुरुष की जान छोड़ दो, तुम्हारा काम तो हो ही जाएगा।'—तब जाकर कहीं वह राजी हुआ।...वह मुझे अपना जासूस समझता है। और मैं उसे अपनी उँगली पर नचाता हूँ। धूर्त से धूर्तता करने में कोई पाप नहीं, भाई !...पर, तुम भोले-भाले हो, और हो मेरे अपने।...अहा, तुम्हारे पिता मुझे कितना प्यार करते थे ? भला वह प्यार मैं कभी भूल सकता हूँ ?"

उस चतुर-चालाक का, भय और उल्लास वाला वह नाट्य कितना अनूठा था !

सुब्रह्मण्यम्, अपने सामने मुँह-बाए खड़ी मौत को देखकर, एक बार सिर से पाँव तक सिहर उठा। उसकी सरल आँखों में सरसों फूलने लगीं। भय-भीत होकर वह गोपाल से लिपट गया—"मेरी जान बचा लो, गोपाल !"

गोपाल ने खुशी को छिपाते और उसे बगल में खींचते हुए कहा—"डरो मत—मुझ पर विश्वास रखो। मैं तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं होने दूँगा।"

सुब्रह्मण्यम् ने कातर स्वर में कहा—"सचमुच वह राजी हो गई है?—उसके साथ चल देगी?" फिर दूर शून्य पर दृष्टि गड़ाकर बोला—"बड़ी ही नेक नारी थी वह! मर्यादा पर मर-मिटने वाले खानदान की लड़की थी। अपने माँ-बाप को खुश करने के लिए ही तो वह मेरे उस मनहूस घर में चली आई थी। ···अब यों एकाएक कैसे बदल जाएगी?—ओह···"

गोपाल उसके उस 'ओह' से कुछ अस्थिर हो गया; और, सारी शक्ति लगाकर गम्भीर मुद्रा में बोला—"खूब समझ लो, सुब्बू—तुम्हारे भाग्य से मैं बीच में आ गया। नहीं तो आटे-दाल का भाव मालूम हो गया होता तुम्हें!···"

कहते-कहते उसकी मुख-मुद्रा एक ऊँचे चिन्तक की हो गई और वह गम्भीरता से पश्चिम दिशा की ओर देखकर बोला—"तुम नहीं जानते हो, कि पश्चिमी शिक्षा ने हमारी सारी पुरानी बातों पर कैसा कुठाराघात कर दिया है? हमारी धारणा तथा समाज-रचना की नींव ही उसने इस तरह हिला दी है, कि अब यह अति प्राचीन विशाल भवन ढहकर चकना-चूर ही हो जाना चाहता है; क्योंकि यूरोप वालों ने इसकी बुनियाद मे ही सुरंग खोद दी है—और बड़ी सावधानी से उसमें 'डाइनामाइट' लगा दिया है! ···तुम क्या स्वप्न देख रहे हो, भोलानाथ?"

सुब्रह्मण्यम् जैसे स्वप्न से जाग गया हो: दृढ़ होकर बोला—"अच्छा; बताओ—अब क्या करना है मुझे?"

गोपाल ने एक निराली तटस्थता से आहिस्ते कहा—"वि-वा-ह !"

सुनते ही सुब्रह्मण्यम् के रोंगटे पुनः खड़े हो गए। उसने बहुत धीरे-धीरे कहा—"वि-वा-हँ ?–क्या कहा—वि···वा···ह ? ···नही, नहीं; विवाह मुझसे नहीं हो सकेगा, गोपाल ! विवाह मैं नहीं कर सकूँगा। एक 'ब्याह' को छोड़कर और जो कहोगे, सब सिर के बल करूँगा।···परन्तु विवाह का नाम लोगे, तो गले में रस्सी लगाकर घुटक जाऊँगा ! दूसरा विवाह ? नहीं, एकदम असम्भव !! यह एक ब्याह ही मेरे सौ जन्म के लिए काफी हो गया। ब्याह-शादी का नाम लेकर मुझे काँटों में न घसीटो, भाई !—पैरों पड़ता हूँ।"

सचमुच सुब्रह्मण्यम् उसके पैरों पर अपना माथा रगड़ने लग गया !

गोपाल ऊँचे आकाश से अकस्मात् गिर पड़ा, और गम्भीर होकर सोचने लगा—"अरेरे—मेरा सारा किया-कराया क्या चूल्हे-भाड़ में चला गया ? ···क्या यह मूढ़ मेरा जाल तोड़कर निकल भागेगा ? ···तब फिर मैंने इतनी माथा-पच्ची की क्यों ?"

उसके दाँत किट-किटाने लगे, और वह ऐठने-जूठने लग गया—जैसे कोई भारी संकल्प कर रहा हो : "नहीं, नहीं; मैं कभी भी इस नादान को अपने पंजे से निकलने नहीं दूँगा—चाहे जो हो जाए।···मैंने कोई कच्ची गोली नहीं खेली है। बड़े बड़े उस्तादों को मैंने पानी पिला दिया है—यह गँवार है किस खेत की मूली !"

उसने अपने बदन को तोड़ा-मरोड़ा, उँगलियाँ कड़-कड़ाईं; और, फिर उस अभागे मानव की बगल में सटकर कहने लगा :

"भाई सुब्रह्मण्यम्—दो नावों पर पाँव रखकर भरी-नदी को पार नहीं किया जाता है!...याद रखो—अगर तुम लक्ष्मी का मोह न छोड़ोगे, तो न घर का रहोगे, न घाट का! तुम्हारी मिट्टी पलीद हो जाएगी। कुल-मर्यादा और धार्मिक भावनाएँ, तूफान के थप्पड़ खाए बिल-बिलाते बादलों की भाँति, जाने कहाँ उड़ जाएँगी! सात पीढ़ियों की बदनामी हो जाएगी। समाज में तुम नक्कू बन जाओगे।...कहीं किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं रहोगे।"

कहते-कहते उसने सुब्रह्मण्यम् का हाथ अपने हाथ में लिया; और, उसकी ठोढ़ी पकड़ कर बोला :

"अभी बाजी तुम्हारे हाथ में है, भाई। तुम्हारा विवाह होते ही सारी बदनामी उस नागिन पर थुप जाएगी। तुम पर कोई उँगली भी नहीं उठा सकेगा। सभी कहेंगे—'वह पहले ही जान गया था—तभी तो उसने छोड़ दिया, और दूसरी शादी कर ली।'...समझे?—यों समाज के बीच तुम्हारा सिर ऊँचा रहेगा; और बाप-दादे की इज्जत आबाद रहेगी!"

गोपाल की आखिरी दलील सुब्रह्मण्यम् के दिल में सुगमता से उतर गई—"ठीक, अभी तो बाजी मेरे हाथ में है। अगर अभी चूक गया, तो सारी जिन्दगी ही हाथ मलते रह जाना पड़ेगा!—फिर ऐसी गलती क्यों करूँ? ऐसा बेवकूफ क्यों बनूँ?...बाप-

दादे की इज्जत···"

बस, 'बाप-दादे की इज्जत' ने उसके दुविधा-द्वन्द्व के सारे बंधन को हठात् तड़ातड़ तोड़ दिया; और, बदन झाड़कर उठते हुए, वह बड़ी बहादुरी से बोला :

"बस, गोपाल—बस ! अब भागो यहाँ से···मेरी आँखें खुल गईं। जीवन की बाजी मुझे जिता दो, बन्धु !—चलो, मैं दूसरी शादी करूँगा !···मुझ पर जो बीते—लेकिन खानदान की इज्जत बचाओ, भाई !"

मंत्र-मुग्ध-सा धूमिल आँखों से देखता वह तनकर खड़ा हो गया—जैसे किसी ने गहरे पानी से निकालकर उसे किनारे पर खड़ा कर दिया हो !

बस, दोनों चुपचाप घर से निकल पड़े !

सहसा चोरों की आशंका से गाँव के स्वल्प-निद्रा वाले कुछ कुत्तों की नींद खुल गई; और वे बेतरह भूँकने लग गए—जैसे बेखबर खर्राटे लेने वाले खुशहालों पर वे गुस्सा हो रहे हों; और साथ ही, दूसरों की संचित श्री-सम्पदा के अपहर्ताओं को नोच डालने की अपनी उतावली जता रहे हों। लेकिन धुन के पक्के यारों को इन तुच्छ तुनुक-मिजाजों की क्या परवाह होती—जो, किसी के एक हाथ में छोटी-मोटी लाठी और दूसरे में रोटी का एक टूटा टुकड़ा देखते ही दुम हिलाने लग जाते हैं !···लेकिन, निशा के गहरे अन्धकार में भी जिस पक्षी के नेत्र

छोटे-से-छोटे छिपे शिकार को भी देख लेते हैं, उनका एक सदस्य उन मित्रद्वय पर फबतियाँ कसने से बाज न रहा। पेड़ पर किच-बिच करता जैसे वह कह रहा हो :

"हाय रे भोलापन, कैसा अभिशाप है यह सरल-हृदय वाले मनुपुत्रों के माथों पर !···और चतुरों की यह चित्रमयी चालाकी ···क्या इसके ऊपर किसी की नजर नहीं है ? क्या विद्या-बुद्धि के इसी विकास पर आदमी का बच्चा गर्व करने जा रहा है ?··· और, सुब्रह्मण्यम् ! सावधान; तुम्हारी आँखें खुलीं नहीं, सदा के लिए बैठ गईं !—ओरे मतिमूढ़!जीवन की बाजी जीतना चाहता है तू ;—और, यों अन्धा होकर पासा पलट रहा है। अरे, पता भी है, कि बिसात पर की तुम्हारी गोटियाँ कहाँ गायब हो गईं ? ···अरे, मगर की पीठ पर निर्भरता से बैठकर तू गरजती-घहरती नदी को पार करना चाहता है—नादान कहीं का !··· परन्तु भोलेपन की सजा भी तो तुझे भुगतनी है न !···और गोपाल, तू अभी बगलें बजा ले, बच्चू···!"

•

रास्ता नापता गोपाल अपने शिकार को अच्छी तरह ठोक-बजा लेना चाहता था, इसलिए दबी जबान बोला—"लक्ष्मी का भूत उतर गया न, भाई ?"

ऊँघता जाता सुब्रह्मण्यम् यों ही बोल उठा—"अब उसका नाम न लो।"

एक सद्गृहस्थ का सर्वस्व अपहरण करके, चोर चलते बने,

पर गाँव की रक्षा में सदैव तत्पर, वे स्वयं-सेवक कुत्ते बेखबर सोए रह गए! केवल याम-परिचायक वह सहृदय उल्लू उन भगोड़ों के माथे पर पंख मारता हुआ, पड़ी कचहरी में, साक्षी भरता रहा!

असंख्य नयनों से सुस्थिर देखने वाले उन्नत आकाश ने दुनिया के घात-कुघात को जैसे नहीं देखा—शीशे-ढले आँख-कान से देखता-सुनता वह चुप बैठा रह गया! अगर उसमें सहृदयता का लेश भी होता, तो वज्र गिराकर उन भगोड़ों को भूमि मे गाड़ देता! पर, वह प्रस्तर-प्रतिमा-सा अपलक देखता रह गया!···निस्तब्ध निशा बेसुध-सी पड़ी थी। मृगशिरा नक्षत्र, व्याधे के डर से, आकाश के रथ को खींचता पश्चिमी सागर में उछल रहा था। ठंढी हवा बहुत धीरे-धीरे चलती थी—जैसे इन महामानवों को देखकर वह भी सकपका गई हो!

चलते-चलते गोपाल ने जरा इधर-उधर देखा; और, जबर्दस्ती कुछ खाँसकर बोला—"सरस्वती को जानते हो न, सुब्बू?"

सुब्रह्मण्यम् सहसा कुछ चौंक उठा, जैसे उसके पैरों तले कोई चिकना जीव करवटें बदल रहा हो—"सरस्वती—तुम्हारी बहन···?"

गोपाल ने पहले धड़कते दिल से उसकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करना चाहा था, लेकिन तुरत पैतरा बदल दिया—

उसे और कुछ कहने का मौका न देकर वह अपनी बात पूरी कह देने को उतावला हो गया—"हाँ, वही तुम्हारे लायक है। वह लक्ष्मी-सी पढ़ी-लिखी तो नहीं है; सिर्फ रामायण-महाभारत पढ़ लेती है, चिट्ठी लिख लेती है : पर घर के काम-काज में खूब दक्ष है। साधारण सिलाई भी जानती है। वीणा पर गा बजा नहीं सकती—गाँव की लड़की है, पर तुम्हारी सेवा-टहल में तन-मन से हाजिर रहेगी; क्योंकि वह अँगरेजी पढ़ी-लिखी नहीं—एक कट्टर हिन्दू-घर की बालिका है। दूसरी किसी सभ्यता का असर उसपर नहीं पड़ा है। वह तुम्हें अपना देवता समझेगी; और तुम्हारा जहाँ पसीना गिरेगा, वहाँ वह अपना खून बहाने को तैयार रहेगी। लक्ष्मी-सी भुवन-मोहिनी तो वह नहीं है, पर मुँह-कान खराब नहीं हैं।…"

सहसा उसे कुछ याद आ गया; और, गर्व-भरे स्वर में कहने लगा—"तुम को ज्योतिषियों पर तो विश्वास होगा ही। हमारे गाँव के प्रसिद्ध ज्योतिषी अनन्ताचारी ने बचपन में ही उसका हाथ देख कर कहा था—'लड़की बड़ी भाग्यशालिनी है—सदा दूध-पूत से भरी रहेगी।'—सुब्रह्मण्यम्, मेरी बहन तुम्हे सरल मन से प्यार करेगी।…वह तुम्हें अन्तर्नयन से देखेगी—बाहरी नेत्रों से नहीं। उसकी आँखों में तुम कुरूप नहीं जँचोगे।…उसे कंघी-दर्पण से शौक नहीं है, पर उसमें सुरुचि और सफाई का अभाव भी नहीं। खुद साफ रहेगी, तुम्हें साफ-सुथरा रखेगी, और तुम्हारे घर-द्वार को भी चाँदनी बनाए रहेगी। अपने हाथ से कूट-पीस कर

तुम्हें अच्छा भोजन खिलाएगी; और तुम्हारा घर-आँगन बाल-बच्चों की किलकारियों से गूँजता रहेगा। सरस्वती तुम्हारे पैर पलोट देगी, प्रतिमास तुम्हें तैल-स्नान करा देगी, और रोज इडली, दोशे, उपमा, वड़े आदि बनाकर तुम्हें पुष्ट बनाए रखेगी। ···याद रखो, वह तुमसे कभी किसी चीज की माँग पेश नहीं करेगी। हमेशा तुम्हारी ही चिन्ता उसे रहेगी। उसको पाकर तुम धन्य हो जाओगे, सुब्रह्मण्यम्—तुम्हारा घर स्वर्ग बन जाएगा।"

गोपाल को फिर एक नई बात सूझ गई। ज्ञान की कमी तो उसमें थी नहीं—बुद्धि भी कभी उसका साथ नहीं छोड़ती थी। अपनी बातों का सिक्का जमाना वह खूब जानता था। इस कला में उसे कोई मात नहीं दे सकता था। बस, अंग-प्रत्यंग को स्फूर्त करके वह मृदुल-से-मृदुल शब्दों में बोला :

"एक बात ज्ञान की कहूँ, भाई? जवानी खेलवाड़ की चीज नहीं है। उसके लिए प्रेम-पराग प्राप्त करना चाहिए। बिना उस खुशबू के जवानी बेकार! यौवन का फूल यों ही मुर्झाने के लिए विधाता नहीं खिलाता है। तुम अभी जवान हो; और याद रहे—प्रेम अपने लिए मजबूत आधार खोजता फिरता है।"

गोपाल, प्राण-सखा के स्वर में, बड़े स्नेह और दुलार से, सुब्रह्मण्यम् के कंधे पर हाथ रखकर, समझाने लगा :

"सच पूछो, तो जो हमारे लिए आँसू बहाता है, उसके लिए खून देने में भी मजा आता है। और जो हर-घड़ी भौंहें चढ़ाए

रहे, नजर उलटे रहे, आदर-मान के बदले घृणा और तिरस्कार बरसाता रहे, उस आस्तीन के साँप को दूध पिलाकर किसी को क्या मिलेगा ? उसके तो दाँत ही उखाड़ कर रख देने चाहिए। लक्ष्मी भी वही जहरीली नागिन है। तुम तुरन्त उससे अपना पिंड छुड़ा लो, सुब्बू। शादी होते ही उसके विष-दन्त आप-ही-आप टूट जाएँगे, और उसकी लचीली कमर पर मजबूत लाठी भी बैठ जाएगी···"

चिन्ताक्रान्त सुब्रह्मण्यम, जहर का घूँट पीता, चुपचाप चलता रहा।

अथाह सागर मे तैरते, गोपाल का पाँव जरा ठोस जमीन से लगा। उसने ढिठाई से कहा—"भाई, कुछ दे-ले न सकूँगा··· गरीब हूँ।"

सुब्रह्मण्यम् सच ही कुछ न समझ सका; और चौंककर बोला—"किस लिए ?"

गोपाल कुछ संशय के स्वरमें बोला—"उसी शादी के लिए।"

शादी का नाम सुनते ही सुब्रह्मण्यम् फिर आँधी में पड़ गया; और बिना कोई जवाब दिए ही, वह गोपाल के पीछे-पीछे चलता रहा। सच पूछा जाए, तो 'शादी' शब्द सुनते ही उसकी आत्मा दर्द से सिसकने लग जाती थी, फिर भी खिंचता वह चला जा रहा था उसी ओर।

हाय, मनुष्य कितना विवश प्राणी होता है !

यहाँ जब घरवालों को ज्ञात हुआ, कि उनके दोनों नातेदार, बगैर कहे-सुने रफू-चक्कर हो गए; तब लोगों के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा। माँ-बहन ने लक्ष्मी का मुँह देखा। वह चकित रह गई। इन हथ-कंडों का क्या पता था उसे? कुछ देर चुप रही : बाद हँसकर बोली—"चिंता क्या है, माँ? वे तो हमारे अपने आदमी हैं न!"

माँ-बाप के दहलते दिल पर, लक्ष्मी के इस सरल व्यंग्य से, एक मर्म-बेधी धक्का लगा; और वे किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर, शून्य आँखों से एक दूसरे को देखते रह गए!

हाय रे भोले माँ-बाप!···जिन्हें तुमने अपने अमूल्य जीवन-रस से उत्पन्न किया, अद्भुत आत्मानन्द से पाला-पोसा; और, जिनके लिए तुमने समस्त जीवन ही समर्पित कर दिया—जरा उनके अन्तर में झाँकने की शक्ति भगवान्‌ने तुम्हे क्यों न दी?··· सज्ञान होकर भी तुम यह क्यों भूल जाते हो, कि 'आत्मजा' होते हुए भी विधाता ने उन सुकुमार सुमनो को स्वतन्त्र दिल-दिमाग भी दिए हैं—जिनमे जाने कितनी तरल तरंगें उठती रहती हैं! हाय! तुम्हारी मोटी नजर उधर—उनके हाहाकार की ओर क्यो नहीं जाती?

संगम-स्नान

इस साल राष्ट्रीय-महासभा का वार्षिक अधिवेशन वीरभूमि पंजाब के अमृतसर शहर मे होने जा रहा था। कालेज-जीवन से ही भारतीभूषण 'महासभा' में जाया करते थे। राष्ट्रीय-पर्व के उस पवित्र अवसर पर उनके परिवार में पर्याप्त उत्साह उमड़ पड़ता था। तीर्थ-यात्रा के लोभ से, कुछ दिनों तक, सुभामा ही पति की साथिनी बनती आई। एक पंथ दो काज—तीर्थ-यात्रा के साथ महासभा देखने का आनन्द। लक्ष्मी के होश सम्हालने तक सुभामा का यह सौभाग्य रहा। फिर तो लक्ष्मी ही पिता के साथ घूमने लगी। लक्ष्मी के ससुराल जाने पर शैलजा की बारी आई। पिछले साल तक वही उत्तर भारत की सैर कर आई थी।

पन्द्रह दिन पहले से ही भारतीभूषण के घर में सफर की तैयारियाँ होने लग जाती थीं। गरम कपड़ों से सूटकेस सहेज लिया जाता था। धुली धोतियाँ, चादर, कुरते आदि, इस्तरी करवाकर, पेटी में रख लिए जाते थे। एक दो झारियों में आम-इमली-नीबू आदि के अँचार और चटनियाँ बंद हो जाती थीं। नाश्ते के लिए उड़द के लड्डू और चावल की मीठी पूरियाँ बनाकर डब्बों में भर ली जाती थीं।

इस घर के लोग सफर में फल खाकर रह जाते हैं, पर बाजार या स्टेशन की चीजें खरीद कर नहीं खाते। यह उनका एक व्रत-

सा बन गया था। इस नियम के कारण ही इस घर के लोग बीमार बहुत कम पड़ते थे। भारतीभूषण को तो खाने-पीने में खास परहेज रहता था। इस सम्बन्ध में उनका गांधीजी के साथ भी मतभेद हो जाता था, क्योंकि भोजन उनके लिए एक धार्मिक कृत्य बना हुआ था। घर पर भोजन के समय ही वह संध्या-वन्दन करते थे, ध्यान-धारणा लगाते थे; और कुल-देवता को अर्पित करके ही 'प्रसाद' पाते थे। इसीलिए जब वह कहीं बाहर निकलते, तो हफ्तों फलाहार पर ही रह जाते थे। लक्ष्मी साथ में 'कूकर' रखती थी—और पिता को ठीक खाना खिलाती थी।

लेकिन, इस साल जैसे किसी को कुछ याद ही न हो! कोई कॉंग्रेस जाने की चर्चा भी नहीं करता था। अधिवेशन में जब सिर्फ एक हफ्ता रह गया, और, नगर के सभी गण्य-मान्य कॉंग्रेस-मेन चल पड़े, तब लक्ष्मी से न रहा गया। सब सामान ठीक करके उसने पिता से कहा—"कॉंग्रेस न चलिएगा?...सब कुछ तो ठीक है।"

बिना कुछ कहे-सुने ही भारतीभूषण तैयार हो गए—जैसे वह इसकी प्रतीक्षा में ही बैठे थे। लक्ष्मी ने घोड़े-गाड़ी पर सामान रखवाया; क्योंकि वह आज का जमाना न था—जब 'कार' के बगैर सब-कुछ बेकार बन जाता है; और न भारती-भूषण को इसका कुछ शौक ही था। सबसे बड़ी बात तो यह थी, कि वह फजूल-खर्च न थे। उनकी मुट्ठी कुछ कसी थी—जहाँ कुछ आने से काम चलता हो, वहाँ रुपया फेंकना उन्हें

मंजूर न था—उसे वह बड़ी बेवकूफी समझते थे। लेकिन जब अपना घर बनवाने लगे, तब ताजमहल की कुछ नक्काशी कराना न भूले—और उसमें कई सहस्र रुपए पानी हो गए !

कलकत्ता-मेल हमारे यात्रियों को लेकर, तेजी से भागती हुई, दो बजे विजयनगर स्टेशन पर आ खड़ी हुई। प्लेटफार्म पर पर आंजनेय तैयार था—जैसे किसी ने उसे तार कर दिया हो !

"मैं भी चलता हूँ !"

"बहुत अच्छा, चले चलो।" पिता के बदले, पुत्रीने ही, सोत्साह कह दिया।

आंजनेय आकर गाड़ी में बैठ गया—जैसे वह इसके लिए तैयार होकर ही आया हो; और बिना पूछे बोल उठा :

"कलकत्ते में ऊनी कपड़े खरीद लूँगा।"

उसके इस कथन पर किसीने कुछ ध्यान न दिया। अपनी पेटियों की ओर देखती लक्ष्मी की निश्चिन्त मुद्रा से ऐसा लगा, जैसे वह कह रही हो—"हमारी पेटियाँ तो कपड़ों से भरी ही हैं—तुम फिक्र क्यों करते हो ?"

गाड़ी में आंजनेय भारतीभूषण को अखबार पढ़कर सुनाता चला। उसके आ जाने से बाप-बेटी बेफिक्र-से हो गए।

हवड़ा स्टेशन आया। हमारे यात्री-गण उतर कर वेटिंगरूम में जा पहुँचे। बाप-बेटी नहाने-धोने लगे, और आंजनेय शहर

चला गया। वह वहाँ से खाने-पीने की बहुत-सी चीजों के साथ बड़ेबाजार के स्पंज-रसगुल्लो की एक बड़ी हॉड़ी, चमड़े का एक बड़ा सूट-केस, ऊनी कपड़े, रेशमी साड़ियाँ, तेल-फुलेल आदि दो कुलियों के सिर पर उठवा लाया।

भोजन के समय, रसगुल्ले खाने के लिए, आंजनेय ने भारती भूषण से बड़ा हठ किया; और, दो-एक उन्हें खिलाकर ही छोड़ा। खाने के बाद 'कार' लेकर सब लोग शहर के दर्शनीय स्थान देखने चले गए।

कलकत्ते में भारतीभूषण अपने कई बंगाली मित्रों से मिले। मिस्टर सेनने बड़े प्रेम से उन्हें अपने घर भोजन के लिए निमंत्रित कर दिया। सौजन्य के नाते इनकार करना संभव न था; परन्तु भूषणजी ने अपने मित्र को जब यह सूचना दी, कि वे लोग कट्टर शाकाहारी है—मछली भी नहीं खाते है; तब सेन महोदय का मुँह लटक गया, और, कुछ चिन्तित होते वह बोले—"तब हम आपको खिलाएँगे क्या ?"

बंगालियो का यह भीषण मत्स्य-प्रेम देखकर ये दक्षिणी ब्राह्मण घोर आश्चर्य में पड़ गए—और, गम्भीरता से सोचने लगे—"क्या अतिथि-सत्कार के लिए इनके यहाँ मत्स्य ही सबसे स्पृहणीय पदार्थ समझा जाता है ?"

खाने के समय रसगुल्ले, संदेश, चमचम आदि की भरमार देखकर इमली-मिर्च खाने, वालों के छक्के छूटने लगे! प्रश्न उठा—क्या खाएँ ? ···कलकत्ते की नामी तरकारी परवल की

मुँजिया उनके मुँह में नहीं जा सकी, सरसों के तेल में सरा-बोर पगा आम का रस-लोल अँचार कड़वी दवा प्रतीत हुआ; उठाकर फेंक दें, तो दीवार में सट जाए—ऐसा लसीला और मीठा दही देखकर खट्टा मट्ठा पीने वाले लोग भौंचक रह गए !... गीला कत्था-लगा मोटा पान कोई मुँह में न डाल सका।

तब जाकर इस यात्री-दल को यह महसूस हुआ, कि हमारे देश में, आन्तरिक एकता के अन्दर भी, कितने प्रकार की वाह्य विभिन्नताएँ भरी हैं ! कदाचित् मन-ही-मन इन लोगों ने कसम खाई होगी, कि अब वे किसी बंगाली-बाबू का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करेंगे।

भोजनोपरान्त, सन्ध्या समय, मिस्टर सेन साग्रह इन्हें बंगला-नाटक दिखाने ले गए। वहाँ जाकर इनका भोजन-कालीन सारा संताप सहसा छू-मन्तर हो गया। रंग-मंच की सजावट, पात्रों की वेश-भूषा, पृष्ठभूमि का ध्वन्यात्मक संगीत, चरित्रका मार्मिक मोड़-तोड़, स्वरालाप की लयात्मकता, भावाभिनय की मोहक भंगिमा—आदि देख-सुनकर यह दक्षिणी-दल बंगालियों की नाट्य-कला, उनका संगीत-विधान, उनकी ऊँची कल्पना तथा उनकी गहरी भावुकता के सुन्दर समन्वय का कायल हो गया; और दक्षिणी सभ्यता के अभिमानी गण अन्तरतम से बंगाली जीवन के प्रशंसक हो गए। भोजन-कालीन उनका षड्रसात्मक संकोच, और नाट्य-मन्दिर-स्थित नवरस-प्लावित उनका उल्लास—इन दोनों पलड़ों पर ऊँचा-नीचा होते, वे लोग पंजाब-मेल पर चढ़ गए।

अमृतसर में तीनों आदमी सदा साथ रहते थे—साथ ही घूमते-फिरते भी थे। इनके पर-प्रान्तीय मित्र-परिचित यही समझते थे, कि ये दोनों इनके बेटी-दामाद हैं। कई बार कई मिलने वालों ने इनसे इसी तरह की जिज्ञासा भी प्रकट कर दी थी। और जब-जब ऐसे प्रसंग आते, आंजनेय के आनन्द की कोई सीमा नहीं रहती—वह मन-ही-मन फूला बैलून बन जाता!···पर बाप का संकोच बेहद बढ़ जाता था। भूषणजी स्वभावतः सत्य-प्रिय व्यक्ति थे। यद्यपि चुप रह जाने से भी वह बला टल जाती, पर उन्हें यह मिथ्या मन्तव्य पसन्द न था। वह साहस के साथ कह दिया करते थे—"नहीं, यह तो मेरा भांजा है।"

ऐसे समय आंजनेय की धूमिल मुख-मुद्रा देखने लायक होती थी! बेचारे का कल्पना-कृत आलीशान महल हठात् ढह-ढनमना कर धूल में मिल जाता; और, वह वहाँ से फौरन भाग खड़ा होता। लेकिन लक्ष्मी को इन बातों से कोई विशेष कुंठा नहीं होती। वह अनासक्त मन से सोचती—यह तो स्वाभाविक ही है; दूसरे लोग ऐसा प्रश्न तो करेंगे ही!···लक्ष्मी के विचारों का यह औदार्य आंजनेय की कुंठा भी दूर कर देता था, और वह एक अनूठे सरस आश्वासन का अनुभव कर पुलकित हो जाता था!

कॉंग्रेस-अधिवेशन के वाद-विवाद में ऐसे कई प्रसंग आए, जिसमें आंजनेय और लक्ष्मी के उत्साह, उल्लास और सहयोग

देखकर भारतीभूषण मन-ही-मन पुलकित हो उठे।···किन्तु उनके उस पुलक में एक अन्तर्दाह भी छिपा रहता था!···

अमृतसर का वह अधिवेशन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। उसके रंग-मंच पर युवक नेताओ द्वारा लाई गई पश्चिमी आजादी की लहर तेजी से फैल रही थी। काँग्रेस में जवाहर और सुभाष दल का जोर बढ़ता जा रहा था। लोकमान्य तिलक का सूर्य अस्त हो चुका था, और गाँधी का चाँद चमचमा रहा था। तिलक के कर्मयोग और गाँधी की अहिंसा पर हमारे यात्री-दल में खूब बहस होती चली, जिसमें आंजनेय दुर्दम उत्साह से कर्मयोग का पक्ष लेता रहा; और, लक्ष्मी अहिंसा का समर्थन करके बाप को खुश करती रही।

अमृतसर से लौटते हुए भारतीभूषण सीधे कलकत्ता आना चाहते थे, लेकिन आंजनेय के आग्रह से सब लोग आगरा आकर उतर पड़े; और, पूनम की रात में—दूध की बरसती उस निर्झ-रिणी में—'ताजमहल' देखने का आनन्द लेने चले गए।

चतुर्दशी का चाँद ऊँचा उठने लग गया था। सर्वत्र दुग्ध-फेन उड़ते नजर आ रहे थे। सफेद और स्निग्ध संगमरमर का बना, किसी की कब्र पर खड़ा, संसार को चकित करने वाला वह स्मारक-सौध, दूध की धारा में बहता—उसमें एक रस होता—समाविस्थ संन्यासी-सा सिर उठाए, नक्षत्र-लोक से कुछ कहता-सुनता जान पड़ता था।

मुग्ध और उच्छ्वसित होकर आंजनेय ने लक्ष्मी से प्रश्न किया—"यह महान् महिमामय महल संसार में क्या घोषित कर रहा है ?"

बूढ़ा उस समय दूसरी ओर कुछ नक्काशियों को गौर से देख रहा था—जैसे वह अपने साथ वहाँ से कुछ शिल्प-सौन्दर्य उठा ले जाने की चिन्ता में लग्न हो रहा हो। उसका चिर-कांक्षित निकेतन अभी अधूरा जो था।

लक्ष्मी ने सरल-सहज भाव से कह दिया—"नारी के अमर प्रेम की महत्त्व-घोषणा !"

आंजनेय उछल पड़ा—"इस घोषणा का अर्थ क्या है ?"

"यही, कि प्रकृति में नारी की ही प्रधानता है।"

"लेकिन कृति तो है यह पुरुष की।"

लक्ष्मी ने उत्फुल्ल होकर कहा—"सही, किन्तु प्रधानता है मुमताज की—एक नारी की। पुरुष शाहजहाँ ने सिर्फ एक प्रतिमा खड़ी कर दी है—इसका प्राण है नारी।"

आंजनेय मुग्ध होता बोला—"सच, प्रेम करना जानता है पुरुष। स्त्रियाँ तो प्रायः निष्ठुरा होती हैं—बहेलिए की तरह छिपकर, प्रवंचनशील प्रकृति से अपने को एककर, निर्भय सर-सन्धान मे उन्हे बड़ा मजा मिलता है।"

लक्ष्मी सचमुच ही कुछ न समझकर अन्य-मनस्क हो रही थी, कि वहाँ बूढ़ा आ गया। बस, आंजनेय की बात-चीत का सिलसिला सहसा समाप्त हो रहा।

आगरे से चलकर हमारा यात्री-दल तीर्थराज प्रयाग पहुँचा, और त्रिवेणी-संगम पर स्नान करने आ गया। इलहाबाद से कई स्टेशन पहले ही, पण्डों के दूत-भूत उनके पीछे लग गए; और हजार कोशिश करने पर भी, उन परोपकारी पुरुषों ने उन तीर्थ-लोभियों का साथ न छोड़ा। 'संगम' पहुँचकर उनकी ही नाव पर उन्हें बैठना पड़ा। भला-मानस-से जँचने वाले वे पण्डे वहाँ पुण्य के ठेकेदार थे—स्वर्ग, सम्पत्ति, स्वास्थ्य, सन्तान—सभी न्यामतें उनकी मुट्ठी में थीं। इन्हें देखकर वे देव-दूत बड़ी सहानुभूति से आपस में यों बातें करने लगे, जिससे यात्री-दल सुन सके!

"अहा, कैसी जोड़ी मिलाई है विधाता ने!"

"पर गोद जो खाली है!"

"संगम-स्नान से सभी मनोरथ पूरे हो जाएँगे!"

भारतीभूषण धार्मिक प्रवृत्ति वाले एक सम्पन्न आदमी हैं, पंडे यह बात अच्छी तरह समझ चुके थे। ऐसी हालत में भला कौन ऐसी शक्ति थी, जो उनसे पिंड छुड़ा सकती? जोंक की तरह वे उनसे चिपक गए: बिना बुलाये बोलते, बिना कहे बेमतलब के सामान ले आते, बगैर पूछे पीछे लगे फिरते, और रोकने पर विनय से हाथ पकड़ लेते थे।... गंगा की तेज धारा में डोलते, गले-भर पानी में खड़े, शुद्ध-अशुद्ध संकल्प-मंत्र पढ़ते, वे लोग बड़ी उदारता से यात्रियों को संगम-स्नान का पुण्य बाँट रहे थे।

पल-पल परिवर्तित, उस शुचि-शीतल तरंगाकुल सितासित धारा में, नाव का रस्सा थामे, हमारे पुण्यार्थी नहा रहे थे। गंगा का धवल दुर्धर प्रवाह जमुना की शिथिल श्यामल सलज्ज जल-राशि को, गुस्से से ठेल-ठालकर पीछे हटा देता था; जैसे कह रहा हो—'क्यों आ रही हो मेरे पास अपना अस्तित्व खोने?—हटो, दूर भागो।'···लेकिन जमुना को मिट जाने की बेचैनी थी। वह गंगा के निर्मम आक्रमणों से घबराई भागी फिरती थी जरूर, पर उसकी गोद से हटती नहीं थी—एक ओर जरा दबती, तो दूसरी ओर उछल कर बढ़ जाती!···उसका दैन्य और दर्प दर्शनीय हो रहा था।

स्नान के लिए बने तख्तों के मंच, घंटे-घंटे में, बदले जाते थे। गंगा को मानों अपने वक्ष पर होने वाले पंडों का यह अवि-रल अत्याचार बर्दाश्त न हो रहा था! फिर भी लोभासक्त मानव कब मानने वाला था—वह तो 'मान-न-मान मैं तेरा मेहमान' बनता ही रहता है!···

लक्ष्मी संगम की इस चंचल शोभा को तन्मय दृष्टि से देखती नाव की रस्सी पकड़े नहा रही थी, कि हठात् उसका हाथ छूट गया; और, वह—तेज धारा में ऊब-डूब होती, तेजी से वह चली।

यह देखते ही वृद्ध भारतीभूषण आर्त्तनाद कर उठे—"अरे रे, यह क्या हुआ? बचाओ, बचाओ, बचाओ—उस बेचारी को डूबने से बचाओ कोई दयावान्···" और लड़खड़ाते हुए वह नाव से उतर पड़े; लेकिन किसी ने उन्हें पकड़ लिया—

"नहीं-नहीं ! आप भी डूब जाइएगा !"

भारतीभूषण का चिल्लाना हठात् रुक गया। उन्होंने आश्चर्य के साथ देखा—कि, उनके शोर-गुल मचाने के पहले ही, वे जोंक-से चिपके दोनों पंडे—'जय गंगा मैया'—कहकर नाव से कूद पड़े; और, तेजी से हाथ-पैर मारते, डूबने वाली की ओर बढ़ चले। उनकी देखा-देखी, जोश में आकर, आंजनेय भी रस्सी छोड़कर तीर की तरह पानी को चीरने लगा।

दो-एक नावें भी छूटीं। लेकिन गंगा की खरतर धारा किसी को बहती जाती उस नारी के पास पहुँचने नहीं दे रही थी। आंजनेय तैरने में उस्ताद था; वह पास तो पहुँच गया, परन्तु लक्ष्मी के कपड़ो से लिपट जाने के कारण, वह अत्यन्त अवश हो गया। लोगोंने समझा—दोनों को गंगा-मैया अपनी गोद में छिपा लेंगी ! लेकिन धन्य थे वे दोनो प्रबल पंडे—जिन्होंने धारा से लड़कर दोनों प्राणियों को, अधमरी अवस्था में, नाव पर खींच ही लिया !···दोनों काफी पानी पी गए थे, और बेदम हो रहे थे ! अगर दो-एक पल भी और देर हुई होती, तो दोनो-के दोनों सीधे 'स्वर्ग' ही पहुँच गए होते !···

विस्मित भारतीभूषण अगम्य करुणा और कातरता से देखते विह्वल-बेहाल हो रहे थे !···

अब तो उन पंडो की पाँचों उँगलियाँ घी में थीं ! आखिर उनके अधूरे संकल्प पूरे हुए, पूजा-प्रार्थना पूरी हुई। फिर दान-

दक्षिणा की बारी आई। सच पूछिए, तो भारतीभूषण न उनके बर्ताव से खुश थे, और न उनके गलत-सलत संकल्प-पाठ से ही उन्हें तृप्ति थी। लेकिन उनके साहस, धैर्य, उदारता, मनुष्यता, तत्परता, परोपकारिता—आदि देव-दुर्लभ गुणों को देखकर तो वह दंग ही रह गए। उनकी कृतज्ञता असीम हो उठी : इसलिए उन्होंने जी खोलकर उन्हें दान-दक्षिणा दी; और, खूब खुश करके उनसे विदा ले ली।

लेकिन विदाई के समय उन पंडोंने वहाँ एक अनोखा नाटक खड़ा कर दिया। लक्ष्मी के आंचल का एक छोर पकड़कर, उनमें से एक ने आंजनेय की धोती की खूँट से बाँध दिया; और दूसरे ने हाथ में फूल-अक्षत लेकर मुसकुराते हुए कहा—"मनौती मानकर जाइए, बाबू—अगले साल गोद भरकर पुनः संगम-स्नान करेंगे; और, त्रिवेणी मैया को सोना चढ़ाएँगे !"

बूढ़ेने झल्लाकर कहा—"अरे—ओ धर्मात्माओ—यह मेरा दामाद नहीं—भांजा है !"

पंडे मुँह फेर कर हँस पड़े—"बाबूजी, हम आदमी पहचानते हैं—इसी की खेती करते हैं। इन दोनों की तो रामने ही जोड़ी मिलाई है। हमसे छिपाने से क्या फायदा ? हम क्या आपका राज्य माँग लेंगे ? आप लोगों का ही दिया हुआ तो खाते हैं···हम तो बिटिया की गोद की बलैया लेंगे !!"

निर्भीक और सत्य-निष्ठ भारतीभूषण को यहाँ हार जाना पड़ा—उनकी सत्य-प्रियता यहाँ कोई काम न आई। वह पंडों को

न समझा सके, कि वे दोनो पति-पत्नी नहीं हैं।···आखिर कुढ़े मन से कुछ दे-लेकर उन्होंने उनसे पिंड छुड़ा लिया? लेकिन उनकी याद अमिट रह गई, जिसमें कृतज्ञता विहँसती थी।

लक्ष्मी केवल मुसकुरा पड़ी—"कैसे ना-समझ हैं ये लोग!···लेकिन धुन के कितने पक्के हैं!"

और आंजनेय की गुदगुदी का तो कहना ही क्या! जैसे जन्म-जन्म की साध ही उसकी सफल हो गई!

कुयोग और सुयोग का कैसा खेल होता रहता है आकाश-कुसुम के लोभियों के जीवन में!

धूमकेतु का स्वैर-विहार

कलकत्ते से मद्रास-मेल खुली; और, सारी रात, मुट्ठी से पकड़ लेने लायक गहरे अंधकार को, एक आँख से चीरती हुई दूसरे दिन दोपहर को विजयनगर स्टेशन पर पहुँची। आंजनेय वहाँ न उतरा। किसीने कुछ कहा भी नहीं। वहाँ से गाड़ी विजयवाड़ा आई; और, प्यासा इंजन घबराकर पानी पीने चला गया।

हमारे दोनो युवक-यात्री फल की खोज में प्लैटफार्म पर उतर पड़े। बूढ़ा गाड़ी में ही रहा। फ्रूट-स्टाल में जाकर आंजनेय ने फल खरीदे; और, दोनो हाथ नारंगियों से भरकर, दोनों गाड़ी की ओर लौटे। आंजनेय आगे बढ़ गया था; लक्ष्मी देखती-सुनती पीछे-पीछे आ रही थी''हठात् उसकी दृष्टि, मुसाफिरखाने की बेंचपर बैठे, दो पथिकों के ऊपर, जा पड़ी। एकाएक उसके बढ़ते पैर रुक गए—जैसे इंजन में वैकुम ब्रेक लग गया हो। लक्ष्मी शून्य और सभीत दृष्टि से देखती खड़ी रह गई।

इतने में गार्डने गाड़ी खुलने की सीटी बजाई। इंजन ने जोर से चिल्लाकर अपनी मंजूरी दे दी। यात्री दौड़-दौड़कर डव्बों में चढ़ गए। लक्ष्मी तब भी ठिठकी हुई, वेंच की ओर ही, देख रही थी। उसके पैर उस ओर बढ़ना ही चाहते थे, कि आंजनेय लपका आया; और, लक्ष्मी के हाथों के फलों को सम्हालता हुआ

प्लैटफार्म पर चला गया। इंजनने खुलने की आखिरी आवाज दी। उधर खिड़की से सिर निकाले घबराया-सा कोई पुकार रहा था—"जल्दी चढ़ो—जल्दी !"

लक्ष्मी को गाड़ी में ढकेलकर आंजनेय भी चढ़ गया। इधर गाड़ी चल पड़ी—भक्-भक्—उधर लक्ष्मी का हृदय कह उठा—धक्-धक् !!

वेंच पर वैठे दोनों पथिकों ने वक्र-दृष्टि से गाड़ी की ओर देखा; और, एक ने घोर घृणा से, एवं दूसरे ने उल्लास से, अपनी गर्दनें घुमा लीं। उसके वाद एक ने, दूसरे की ओर मुड़कर गंभीरता से कहा—"देख लिया न तमाशा ? मेरी वातों का मर्म इसी से समझ जाओ।"

सुब्रह्मण्यम् मौन वैठा था। लेकिन उसकी आँखों से दहकते अंगारे उड़ रहे थे; और, वह सोच रहा था—"यह काया-पलट ! यह उलटी नजर; और,—यह निर्लज्जता !"

गोपाल ने धीरे से पूछा—"अव भी वैठ ही रहोगे ?"

सुब्रह्मण्यम् क्रोध से पागल होकर चिल्ला उठा—"नहीं, अव एक क्षण भी नहीं रुकूँगा। उठो—व्याह की तैयारी करो।···मैं इस अपमान का वदला लूँगा !"

गोपाल की खुशी में पर लग गए। दोनों तत्क्षण उठ खड़े हुए वेंच पर से; और,—देखते-देखते भीड़ में गायव हो गए। हाय री नासमझ दुनिया—वह केवल सामने ही क्यों

देखती है ?...

कुन्दनपुर—भूषणजी के महल में :

पूस की रात ढल चुकी थी। लुधियाने की लोई में लिपटे हुए आंजनेय की खुमारी-भरी आँखें, खिड़की राह, आकाश-कुसुम गिन रही थीं। उसकी नींद निठुराइ से इठलाती फिरती थी—पास नहीं आ रही थी—और, वह पिछली घटनाओं को, उलट-पुलट कर, अपने-आप कुछ कह रहा था :

"पिघली तो मालूम होती है। लेकिन मुँह खोलकर कुछ करने की मेरी हिम्मत नहीं होती। क्या कहूँ ?...कैसे कहूँ ?...अगर बात पसंद न पड़ी, तब ?—तब तो वह भूखी बाघिन ही बन जाएगी—और क्रोध मे आकर मेरा यह घोसला ही उजाड़ डालेगी। फिर तो मुझे यहाँ कदम रखने को भी ठौर नहीं मिलेगा। सारी जिन्दगी के लिए मै इस साहचर्य-सुख से भी वंचित हो जाऊँगा। ...वह मर्यादा-प्रिय घराने की औरत है; और, बाप को प्राणों से भी अधिक प्यार करती है। यह ढंग उसे कदापि पसन्द न पड़ेगा। हमारा समाज भी इसे निकृष्ट समझेगा।...भारतीय नारी का हृदय अत्यन्त संकोचशील होता है। वह चाहे कितनी भी पढ़ी-लिखी क्यों न हो, नूतन पथ पर चलने में उसे बेहद झिझक होती है।—लक्ष्मी 'तलाक' का नाम सुनते ही तिलमिला उठेगी ...और उसका सनातनी बाप तो इसके लिए सात जन्म में भी राजी नहीं होगा। जिस पिता को खुश करने के लिए इसने

इतना बड़ा त्याग किया है, उसके कलेजे में क्या वह घातक बर्छी भोंक सकेगी ?···नहीं, यह सब अभी नहीं सोचूँगा। पहले उस गँवार का ब्याह तो हो जाए। फिर उसके सारे आधार टूट जाएँगे।···तब जीवन की बाजी लगाई जाएगी। नहीं जानता, उस बाजी में क्या होता है—जीत या···"

उसी समय सहसा एक बड़ा भोंड़ा उल्लू, जोर से पंख मारता, उसके सामने से उड़ गया। आंजनेय की विचार-लड़ी टूट पड़ी। खिड़की से झाँक कर उसने देखा—तारे ज्यों-के-त्यों जगमगा रहे थे। पूरब में कालिमा को खदेड़ती तन्वंगी उषा बढ़ी आ रही थी। फिर उसने पश्चिम की ओर देखा—अंधकार जमकर बैठा था; उसमें परिवर्तन के कोई चिह्न नहीं दीख रहे थे। ऐसा मालूम होता था—ये तारे कभी मलिन पड़ेंगे नहीं; और, यह अंधकार कभी मिटेगा नहीं—यों ही बैठा रहेगा। फिर उसने पूर्व की ओर मुड़कर देखा—सफेदी की क्षीण रेखा फैलती जा रही थी। उसने सोचा—"क्या ज्योति की यह पतली धारा समस्त भू-मंडल पर छा जाएगी—और, फिर अँधेरे का कहीं नाम भी नहीं रह जाएगा ?···यह आश्चर्य कैसे होगा ? लेकिन होगा तो ऐसा ही—और, वह भी बहुत जल्द—देखते-देखते ही ! तो क्या मेरे प्रेम की तह में छिपी उषा, मेरे जीवन के घन-अंधकार को नहीं मिटा सकेगी ?"···

सहसा उस सफेद पतली चादर पर, जाने कहाँ से आकर, अमित लालिमा बरस पड़ी; और, देखते-देखते इधर-उधर गहरे

गुलाबी रंग की पिचकारी छूटने लगी। उल्लास से पीछे मुड़कर उसने देखा—अंधकार का आसन हिल रहा था; और, उन्नत लोक के वे ज्योर्तिमय प्रदीप बुझने लग गए थे।

"क्या मेरे जीवन में भी कभी ऐसी स्वर्ण-माधुरी खिलेगी ?"

एकाएक कई काले कौए वहाँ कहीं से उड़ आए; और, बेहद कर्कश स्वर में 'काँव-काँव' करने लग गए। जैसे दुनियाँ के किसी महान् निर्णय पर वे अपनी कठिन नाराजगी जता रहे हों।

आंजनेय झल्लाकर उठ खड़ा हुआ—"किसने बनाया यह कर्कश स्वर !"

राहु का लम्बा हाथ

दुपहरी ढली; और, अनमनी लक्ष्मी उसी बाग में आकर बकुल की सघन शीतल छाया तले बेंच पर बैठ गई।

हाथ में कुछ लिए-हुए आंजनेय लक्ष्मी के सामने आ खड़ा हुआ; और, बड़ी आजिजी से कह उठा—"एक भेंट लाया हूँ, लक्ष्मी !...स्वीकार करोगी ?"

लक्ष्मी चिन्ता-मग्न दीखती थी; एवं अन्य-मनस्क भाव से बोली—"क्या है ?"

आंजनेय ने अत्यन्त धीमे स्वर में जवाब दिया—"छोटी-सी रिस्टवाच।"

लक्ष्मी—"शैलजा के लिए लाए हो ?"

आंजनेय ने झेंपते हुए कहा—"नहीं,...तुम्हारे लिए।"

लक्ष्मी कुछ चौंककर बोली—"मेरे लिए...?"

आंजनेय विनम्र आग्रह से बोला—"हाँ, स्वीकार करो।"

लक्ष्मी कुछ उदास हो गई—"मैं......मैं इसे लेकर क्या करूँगी ?"

आंजनेय अति कातर स्वर में गिड़गिड़ाने लगा—"ऐसी निर्दयता मत दिखाओ, लक्ष्मी !...बड़े अरमान से लाया हूँ।"

लक्ष्मी ने घड़ी को जरा गौर से देखकर कहा—"ऐसा मत समझो...सोने की मालूम होती होती है...कितने की है ?"

आंजनेय को कुछ खुशी और कुछ संकोच दोनों एक साथ हुआ; और, वह टूटे स्वर में बोला—"यही—कोई आठ-नौ सौ की होगी। 'शेप' पसन्द पड़ी, और ले ली···जरा हाथ बढ़ाओ—बाँध दूँ।"

लक्ष्मी ने अनमने भाव से अपना बायाँ हाथ बढ़ा दिया—"यह फजूल-खर्ची है···य्यों रुपया पानी में क्यों फेंकते हो?"

विना कुछ जवाब दिए ही, आंजनेय ने बड़े प्रेम से वह घड़ी, उसकी नवनीत-सी कोमल कलाई में बाँध दी। उस स्वल्प कर-स्पर्श ने ही जैसे उसे स्वर्ग-सुख दे दिया!

लक्ष्मी ने घड़ी को देखते-देखते मन्द स्मित से कहा—"एक बात पूछूँ, आंजनेय?···बुरा तो नहीं मानोगे न?"

आंजनेय सहसा कुछ सकपकाया; और, कुछ आशान्वित भी हो उठा—"बुरा मानना—सो भी तुमसे?···कहो, निस्संकोच कहो—जो कहना चाहती हो।"

नृत्य-निरत मयूर-पुच्छ-सा लक्ष्मी का झुका हुआ सिर जिस प्रकार सुस्निग्ध दीख रहा था, उसका स्वर भी वैसा ही गम्भीर स्नेह से सना हुआ था,—विना सिर उठाए ही वह कहती चली: "अब यह स्वच्छन्दता तुम छोड़ दो, आंजनेय!···अब न तो तुम नादान लड़के हो, न मैं ही अबोध बच्ची हूँ। दूसरे लोग देखकर बुरा मानेंगे। अब हम बड़े हो गए हैं: और बड़ों की दृष्टि की कद्र हमें करनी ही चाहिए।"

आंजनेय भी सिर झुकाए सुनता रहा—कोई जवाब उसके

मुँह से न निकला।

लक्ष्मी ने अब सिर उठाया; और, एकदम रिक्त दृष्टि से देखती बोली—"और तुम शादी क्यों न कर लेते हो?···कब तक यों—बिना अगाड़ी-पिछाड़ी के दौड़ लगाते रहोगे? यह स्वैर-विहार अब अच्छा नहीं—इसे बन्द कर दो!···समाज में बदनामी बढ़ेगी।" फिर कुछ रुककर वह पूछ बैठी—"सच कहो—तुम ब्याह क्यों नहीं करते हो?"

आंजनेय ने कुछ इधर-उधर करके कहा—"चित्त नहीं चाहता है।"

लक्ष्मी को कुछ कुतूहल हुआ—"चित्त क्या चाहता है?"

आंजनेय को मानों एक जोर का धक्का लगा: क्या वह कह दे—'चित्त तुझे चाहता है'—उसके अन्तर से उड़े शब्द, ओठों के पास पहुँचकर, बहुत फड़-फड़ाए; पर मुँह न खुल सका—वह भीतर-ही-भीतर घुटकता रह गया।···बड़ी देर के बाद बोला:

"लक्ष्मी, चित्त कुछ ऐसी अनोखी वस्तु चाहता है, जिसकी प्राप्ति इस दुनिया में असंभव दीखती है। वह पदार्थ आकाश-कुसुम है; फिर भी मन उसी के लिए मचलता है···"

लक्ष्मी ने सुन्दरता का सुभग खिलौना-सा अपना सिर ऊँचा किया; और, वह मृदुल ममता से भर गई—"आंजनेय, यह नादानी ठीक नहीं है। तुम मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ रहे हो!···दिल से यह अंधी भावुकता भगा दो। आकाश-कुसुम की कल्पना छोड़ दो। पैर जमीन पर रखो; और, स्थूल जगत्

के निष्ठुर नियमों का दृढ़ता से पालन करो।"

सजल-नयन आंजनेय, चुपचाप अपने आँसू आप पीता रहा।

लक्ष्मी ने उन चमकीले कणों को कनखियों से देखा; और, अपने अंचल-छोर से उन्हें पोंछकर वह बोली—"नासमझ—अधीर न हो; यह दुनिया ही जीवन-संग्राम की है। इसमें मनुष्यों को सदा आशा-निराशा के साथ झगड़ता ही रहना पड़ता है!···मेरी बात मानकर तुम विवाह कर लो!"

आंजनेय ने छल-छलाई आँखें उठाकर देखा—लक्ष्मी की आँखों की कोर में भी कहीं छिपे एक-दो धवल मोती हठात् चमक उठे थे—जिन पर पर्दा डालने का वह विफल प्रयत्न कर रही थी!···

आंजनेय ने साहस बटोरकर कहा—"लक्ष्मी!—मेरे मनोमय जगत् की स्वामिनी! सुनो—स्थूल जगत् के साथ अब मेरा कोई स्नेह-सम्बन्ध नहीं रह गया है। सच पूछो, तो उससे मेरा घोर विरोध चल रहा है। कारण—उसने मेरी सबसे प्रिय वस्तु छीनकर, दूसरे अनधिकारी और अयोग्य के हाथों में, रख दी है। मैं उससे इसका बदला लूँगा—उसके व्यक्ति-विरोधी नियमों को निर्ममता के साथ कुचलूँगा; और, उसकी छाती पर दानवी उल्लास के साथ ताण्डव नृत्य करूँगा!···वह चिढ़ता है, चिढ़े!···कुढ़ता है कुढ़े!···उसे जो करना है, शौक से करे! मेरी दुनिया बिगड़ चुकी है!···अब मैं किसकी परवाह करूँ, लक्ष्मी?"···कहते-कहते उसका स्वर भंग हो गया—"लक्ष्मी,

मैं तुम्हारा हूँ। तुम मुझे सम्हालो; नहीं तो मैं भयावह धूमकेतु बन जाऊँगा!"

अन्तर से सहमी-सकुची लक्ष्मी कुछ कहना ही चाहती थी, कि पिता ने अपनी पूजा पर से उसे पुकारा। वह हड़बड़ा कर उठ खड़ी हुई; और, फिर तेजी से अन्दर चली गई।

आंजनेय खोया-खोया-सा निविड़ निशा के घनान्धकार में भटकने लगा।

चन्द्र-ग्रहण

दिन के दो बजे, अन्दर की कोठरी में, एक ही पलंग पर लेटी हुई, शैलजा और लक्ष्मी घुल-मिलकर बातें कर रही थीं :

लक्ष्मी ने मीठी मृदुलता से पूछा—"कहो—वहाँ घर-बार कैसा है ? सास-ससुर का स्वभाव कैसा है ? और वह..."

शैलजा की त्योरी सहसा तन गई; और, वह कुछ रूखे स्वर में बोली—"वह सब पीछे कहूँगी :—पहले यह तो बताओ—मामा यों नाराज क्यों हैं ?"

लक्ष्मी हँसने का कुछ प्रयत्न करती, बोली—"मेरा अभाग्य !"

शैलजा—"नहीं, सच बताओ।"

लक्ष्मी ने उसी निस्संग मुद्रा से कहा—"सच ही तो कहती हूँ। रहस्य क्या है, मैं कुछ भी नहीं जानती। जाने क्या हुआ, एक रात दोनों, विना कहे-सुने ही, यहाँ से भाग गए !"

शैलजा—"मुझे तो आंजनेय पर शक होता है।...उसकी हरकतें मुझे एकदम पसंद नहीं पड़ती हैं।"

लक्ष्मी—"और मुझे गोपाल पर सन्देह होता है। वहाँ भी वह एक रात आया था—और, सारी रात उनके कानों में फुस-फुस करके चला गया। जब से वह गया, तुम्हारे मामा की नजर बदल गई !...मालूम होता है—यहाँ भी कुछ कह-सुनकर वही भगा ले गया है।...मुझे कुछ अमंगल दीखता है, शैल।

काँग्रेस से लौटती मैंने उन्हें विजयवाड़ा स्टेशन पर देखा। परन्तु गाड़ी खुल रही थी, इसलिए मैं मिल न सकी। वह नाराज दीखते थे। गोपाल भी साथ था। लगता है—जैसे वह मेरे विरुद्ध कोई भारी षड्यन्त्र कर रहा है!"

शैलजा उत्तेजित होकर उग्र स्वर में बोल उठी—"तो मैं मामा को पत्र लिखती हूँ।···यों चुप रहने से तो अनर्थ ही हो जाएगा!"

लक्ष्मी अत्यन्त शान्त भीति से कहने लगी—"शैलजा, मुझे आज-कल कुछ अच्छा नहीं लगता है। एक तरह की बेचैनी, सिन्धु-तरंगों की तरह, मेरे अन्तर से उठती और विलीन होती रहती है। रात में बुरे-बुरे सपने देखती हूँ। दाहिनी आँख और दाएँ अंग बार-बार फड़क उठते हैं। जैसे कोई अशुभ तेजी से बढ़ा आता है और मुझ पर टूट पड़ना चाहता है!··· 'संगम-स्नान' की कथा तुमने सुनी ही होगी। सोचा—उसी से सारा ग्रह टल गया। पर अब तो मामला कुछ बेढब होता जा रहा है। इच्छा होती है—या तो अपना ही मुँह नोच लूँ, या दुर्गा की तरह भीषण हुंकार करके, इस अन्यायी समाज को ही ऐसी लात लगाऊँ, कि इसकी हड्डी-पसली टूट जाए!—भट्ठी की पिघलती आग की तरह, अन्दर-ही-अन्दर, दग्ध होती रहती हूँ। शैलजा, यह दमघोंट बेचैनी है···कैसे इससे रक्षा पाऊँ?"

एक गूढ़-गहरी वेदना उसकी उसाँसों में उभर उठी।

शैलजा अचानक उत्तेजित हो उठी; और, जाने किस पर त्योरी चढ़ाकर बकने लग गई—"किसने तुम्हारी यह हालत

वना दी, बहन ? तुम तो ऐसी अभागिनी न थी !—इतनी रूपवती, इतनी गुणवती, इतनी पढ़ी-लिखी, और—तुम्हारी यह दुर्दशा !"...

शैलजा समवेदना से उमड़कर आकुल होने लगी—"तुमने इस अत्याचार के जुए में अपनी गरदन क्यों फँसाई, बहन ? साहस के साथ क्यों न कह दिया—'मुझे यह सम्बन्ध पसन्द नहीं है !'—फिर क्या मजाल कि कोई तुम्हें गलित-गर्व होने वहाँ भेज देता ?...मैं ना-समझ हूँ—थोड़ा-बहुत जो कुछ सीखा है, तुमसे ही सीखा है। फिर भी सच कहती हूँ—अगर मुझसे कोई ऐसा प्रस्ताव करता, तो मैं उसका मुँह नोच लेती, उसकी आँखें निकाल लेती—भले ही वह घनिष्ठ-से-घनिष्ठ आत्मीय या पूज्य क्यों न होता मेरा।...माँ-बाप ने हमें जन्म दिया है, तो क्या हमें बेच देने, या गढ़े में ढकेल देने का भी अधिकार उन्हें प्राप्त हो जाता है ?...मैं ऐसे लोगों को माँ-बाप नहीं—परम शत्रु मानती हूँ, बहन !"...

शैलजा के हृदय का बाँध जैसे आज टूट गया हो। आज तक उसने बहन के सामने इस तरह कभी मुँह नहीं खोला था। माँ से भी बढ़कर उसका लिहाज और अदब वह करती आई थी; क्योंकि वह सिर्फ बहन ही नही, उसकी गुरानी भी थी; और थी प्रेमल सहेली। लेकिन आज वह अत्यन्त क्षुब्ध हो उठी थी; और, उसकी सारी वेदना आज उसका कलेजा तोड़कर निकल जाना चाहती थी।

समाज को क्या फायदा हुआ—सो तो कहो, बहन ? तुम-सी विदुषी नारियाँ, इस प्रकार अर्थ-शून्य रूढ़ियों के पालन में, ऐसा व्यर्थ का बलिदान नहीं करती हैं। युग-पुरुष तुमसे कठोर होकर पूछेगा—'अशिक्षिता जो करती है, उस पर उँगली नहीं उठाई जाती; पर, तुमने तो शिक्षिता होकर भी विवेक का गला घोटा है। इसके लिए तुम्हें कोई क्षमा नहीं करेगा।'—युग-धर्म आँखों में उँगली डालकर कहेगा—'अंधी लड़की! हः···हः—हः— अरे, मन किसी को देकर, तन किसी और को सौंपा जाता है?—और इसे कहीं 'धर्म' कहा जाता है? पगली कहीं की? अरी, धर्म की लौ तो अन्तर्जगत् की परम लुभावनी चीज होती है। उसी अन्तर्देवता की अवहेलना करके तू 'धर्मात्मा' बनने चली है!—यह तुम्हारा निरा ढोंग नहीं, तो और क्या है?'— कहो—कहो, बहन,—क्या जवाब दोगी उस युग-पुरुष को?"

लक्ष्मी ने दबी जबान से कहा—"इतनी उत्तेजित क्यों हो जाती हो, शैल?—अपनी गलती तो मैंने मान ही ली है! फिर मुझे क्षमा क्यों न कर दो?"

शैलजा ने जैसे कुछ सुना नहीं; और, अपनी धुन में वह कहती रही—"तुम्हारी उस बलि-वेदी पर, उस समय, मैंने भी मंगल के गान गाए थे!···हाय, कैसी नादान थी मैं!···नई साड़ियाँ, नए जेवर, नए-नए सिंगार सजा कर तब मैं कितनी उछली-कूदी थी—हाय रे, अभाग्य!—लेकिन बहन, उस समय आज की वेदना का मुझे कोई ज्ञान न था?—काश, यह ज्ञान उस

समय होता—तो, सच कहती हूँ, बहन—यह अनाचार मैं न होने देती तुम पर। किसी पूज्य-अपूज्य की परवाह न करके, हाथ पकड़कर उस गँवार को मंडप से उठा देती ! और चीख-चीख कर घर में कुहराम मचा देती। और—अगर कोई रोकने आता, तो गला फाड़-फाड़कर चिल्लाती हुई गलियों में दौड़ जाती; और, जो भी मिलता, उसी से कहती—भाई, रोक दो—यह शादी नहीं, यह एक निरीह आत्मा की बलि है !—दुनिया के रहम-दिल लोगो—रोको; इस परम्परागत नारी-निर्यातन को रोको !!···"

शैलजा आवेग-भार से जैसे कुछ थक गई हो; कुछ देर रुककर, वह फिर व्यंग्य बरसाने लगी :

"बहन, सच पूछो, तो मैं इसे 'सतीत्व' भी नहीं मानती। सतीत्व तो मुग्ध आत्मा का मधुमय संगीत कहा जाता है। लेकिन तुमने जो किया, वह तो दैन्य-पूर्ण दासत्व ही माना जाएगा। भारत की नारियाँ, जाने किस युग से, इस दैन्य का विषम भार ढोती आ रही हैं। तुमने उस लौह-शृंखला में एक और मजबूत कड़ी जड़ दी है !—इच्छा होती है, अपने सिर के बाल नोच डालूँ !—कपड़े फाड़ फेंकूँ ! इन गहनों को गेंद बनाकर गगनांगन में उड़ा दूँ ! और घर-घर हाथ जोड़ती फिरूँ—लड़कियों के माँ-बापो ! अगर योग्य वर न मिलता हो, तो अपनी बेटियों का गला, भोथी छुरी से रेत दो; पर दया करके ऐसा मनहूस मेल मत मिलाओ !! ··"

सुनती-सुनती लक्ष्मी उठ बैठी; और, शैलजा की ठोड़ी पकड़ कर बोली—"शान्त हो जाओ, शैलजा—तुम आज बहुत उत्तेजित हो गई हो। यह सही है, कि मैंने कायरता का काम किया है? परन्तु जो किया है, उसे खूब सोच-समझकर किया है, जोश में आकर नहीं किया है।—और जो काम इस दृढ़ता से किया जाता है, उसके लिए कोई अनुताप नहीं करता है, बहन!···और, सोचो तो सही—परम पूज्य और प्यारे मेरे ये माँ-बाप—जिन्होंने जगत् में लाकर मुझे खड़ा किया है—चाहते थे, कि मैं जाकर उस घर को आबाद करूँ! जननी का इसमें विशेष जोर था; और, तुम जानती हो, कि हमारे पिता माँ की इच्छा के ऊपर ही अपना विशाल विवेक छोड़ते आए हैं! भला ऐसा आदर्श पत्नी-भक्त तुम्हें कहीं कोई और मिला है, शैल?···फिर कहो—इनके सामने मैं विरोध की आवाज कैसे उठाती?···कैसे कहती, कि मैं तुम्हारे चुने हुए व्यक्ति से शादी न करूँगी?···अगर कहती, तो, क्या वे जहर खाकर मर न जाते?···यह हत्या मैं कैसे उठाती, शैल?"

लक्ष्मी कुछ गम्भीर होकर कहने लगी—"शैल, तुम बातों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखती हो। इसी से यह ऐसी डरावनी सूरत धारण कर लेती है। दरअसल इस युग का यह 'युग-धर्म', उसका यह मनोविज्ञान, जीवन और यौवन की उसकी यह माँग, तथा प्रेम के नाम पर चलने वाला उसका यह अग-जग-व्यापी स्वैर-विहार—उसकी अनन्त गुप्त-कथाएँ—ये सारी चीजे हमें सचमुच

शाखा-मृग बनाती चली जा रही है। नारी—खासकर भारत की नारी—सदा से सहना जानती है। उसने बहुत-कुछ सहा है—सो भी हँसती-हँसती! क्या उनके शरीर मे मन नहीं था? क्या उनके मन में कभी लालसा की लहरें नहीं उठती थीं?··· कोई भी युग हो, मनुष्य का मन तो कभी पुराना नहीं पड़ता, शैल—और उसकी माँगें भी कभी बासी नहीं होती हैं। फिर भी, आज की तरह, हम घावों को उधेड़-उधेड़ कर नित्य नया बनाने की आदी नहीं थीं। हम समयानुसार अपने मन पर काबू करना जानती थीं। भारत की नारी की यही विशेषता रहती आई है, शैल।"

कहती-कहती वह कुछ हल्की होती जान पड़ी—"मैं उससे दूर जाना नहीं चाहती, शैल। माँ-बाप के लिए मैंने जान-बूझकर इस पथ पर पैर रखा है। यह अपने को खुश करने के लिए मैंने किया है—यह मेरी आत्मा की माँग है। मैं इसे ठुकरा नहीं सकती। इस धर्म के पालन में एक जन्म क्या—अगर सौ-सौ जन्म तक प्रायश्चित्त करना पड़े—तो उसके लिए भी मैं तैयार रहूँगी। ···एक बात और सुन लो, शैल—यह मेरा व्यक्तिगत धर्म है, और, व्यक्ति अपने सुख-दुःख के निर्णय में स्वच्छन्द रहे, सुसंस्कृत समाज का यही उच्चतम आदर्श होना चाहिए।·· प्यारी शैल, तुम मुझे बहुत प्यार करती हो, तुमसे मेरा दुःख देखा नहीं जाता है, इसीसे इतनी क्षुब्ध हो उठी हो। शान्त हो जाओ: तुम्हारी यह कातरता भी व्यक्तिगत जीवन की माँग है; क्योंकि तुम मेरी

'अपनी' हो; और, मुझे जी-जान से प्यार करती हो। अपने मुहल्ले की किसी दूसरी औरत के लिए यह क्षोभ तुम्हारे मन में पैदा नहीं हो सकता !···कहो—सच है या नहीं ?"

शैलजा आतुर होकर लक्ष्मी से लिपट गई; और, सिर झुकाकर कहने लगी :

"बहस में तुमसे मैं कभी जीत नही सकती, बहन। तुम बड़ी आसानी से मेरा मुँह बन्द कर सकती हो। लेकिन, अन्तर में वेदना की जो आग धू-धू कर जल रही है, वह तर्क से तो शान्त न होगी, बहन ! तुम-सी रूपवती और विदुषी नारी को यों लांछित होते देखकर वह आग और उन्मत्त हो जाती है !"

लक्ष्मी मौन हो गई; और, गहराई में डूब कर बोली—"कोई क्या कर सकता है—यह तो विधि-विधान है।—इसे कौन टाल सकता है, शैल ?"

शैलजा बहन का भाव बिलकुल न समझ सकी। बोली—"नहीं, हम यह अमंगल कार्य नहीं होने देंगे। किस अपराध पर कोई तुम्हें त्याग देगा ? मैं पिताजी को तार देने जाती हूँ। देखें, वह कैसे ले आता है इस घर में नई दुलहिन !"

लक्ष्मी हँस पड़ी; और, व्यंग्यपूर्ण विनोद से बोली—"और सन्तान कहाँ से लाकर दोगी उन्हें ?···यह मैं खूब जानती हूँ, कि मेरे सामने वह महात्मा भींगी बिल्ली बन जाएँगे।···पर, जब दूर तक सोचती हूँ, तो यही अच्छा लगता है, कि वह दूसरी शादी कर लें। उनका वंश बढ़ेगा; और, सब लोग सुखी

हो सकेंगे।"

शैलजा गहरी अन्तर्वेदना से कराह उठी—"फिर· · ·तुम ?"

"मैं ?· · ·मैं भगवान् के हाथ में हूँ !"—कहकर लक्ष्मी उठी; और, बाहर बरामदे में चली आई। शायद वह अपने भगवान् को ढूँढ़ने और उन्हें अपनी अन्तर्व्यथा सुनाने के वास्ते एकान्त की तलाश कर रही हो।

शैलजा ने अंदर जाकर, भरी-आवाज में, माता से कहा—"जानती हो—मामा दूसरी शादी कर रहे हैं, अम्मा !"

सुन कर सुभामा को जैसे सहस्रों बिच्छुओं ने डंक मार दिया ! वह पूजा के लिए आरती सजा रही थी, कि उसका हाथ काँपा; और, आरती का थाल जमीन पर गिर पड़ा।

बाप बम्बई गया हुआ था—महासमिति की बैठक में भाग लेने। शैलजा ने पिता और बहनोई दोनों को जरूरी तार दे दिया। पिता को जल्दी बुलाया; और, बहनोई से प्रार्थना की—'विवाह रोको, हम आ रहे हैं।'

तार पाते ही घबरा कर, 'भारतीभूषण', मद्रास-एक्सप्रेस पर चढ़ गए। दूसरे दिन नौ बजते-बजते वह घर पहुँचे। सुस्थिर भी न हो पाए थे, कि तार वाला आया, और, एक जरूरी तार हाथ में रख गया। तार कहता था—'कल सवेरे विवाह हो रहा है !'

सर्वत्र मौन त्रास प्रसरित होने लगा। कोई किसी से न कुछ

कहता था, न कोई किसी से आँखें ही मिलाता था। वाचाल शैलजा भी सन्न रह गई। केवल लक्ष्मी, पद्म-पत्र के सदृश्य, जल और जलन से परे दीख रही थी। उसने सुस्थिर गति से पिता के पास जाकर कहा—"चिन्ता की क्या बात है, पिताजी? यह तो किसी की कल्याण-कथा है—आप अपना शुभ सन्देश तार द्वारा भेज दीजिए।···मुझसे तो किसी को कोई सुख है नहीं!"

प्रलय

बूढ़े बाप के कलेजे में भूकंप के जो धक्के लग रहे थे, उन्हें कोई नहीं जान सका। वह किसीसे कुछ नहीं बोला। चुपचाप उठ खड़ा हुआ। न छाता लिया, न जूते पहने। पागल की तरह भागता हुआ स्टेशन पहुँचा।

पीछे-पीछे लक्ष्मी भी घोड़ा-गाड़ी लेकर आ गई; और, बाप को पकड़ कर बोली—"आप कहीं न जाइए। जो कुछ होता है, होने दीजिए।"

लेकिन बूढ़े के कानों में कोई बात नहीं पहुँची। पैसेंजर-गाड़ी खुल चुकी थी। एक माल-गाड़ी जाने की तैयारी में थी। गार्ड के सामने गिड़-गिड़ाकर, उसकी जेब गरम कर, बूढ़ा किसी तरह उसी पर चढ़ गया।

लक्ष्मी प्लैटफार्म पर खड़ी देखती रह गई। उसके पाँव गाड़ी की ओर न बढ़ सके; और, न बूढ़ेने ही उसकी ओर कोई ध्यान दिया।...

देखते-देखते निर्मल नभोमंडल में घन-घोर घटा घिर आई। फिर भूतल को आकाश में फेंक देने वाला झंझावात चलने लगा। लेकिन उमड़ते बादल-दल को वह फिर भी बिखेर न सका। पहले रिम-झिम शुरू हुई; और, फिर धीरे-धीरे मूसलधार वृष्टि होने लगी। झंझाने उसमें तलवार की धार ला दी। देखते-

देखते महा विकराल समय आ पहुँचा।

ऐसे समय कोई जंगली जीव भी अपने आश्रय-स्थल से निकल नहीं सकता था! परन्तु उस बूढ़े के दुर्भाग्य का खेल देखने लायक था। मालगाड़ी से उतर कर वह सीधे उस गाँव की ओर चल पड़ा।

उसके हाथ में न छाता, न पैरों में जूते; शरीर जर्जर और क्लान्त! कहीं कोई सवारी नहीं!···फिर भी वह रुका नहीं,—पैदल ही चल पड़ा। जिसने देखा, वही बोल उठा—'कोई पागल है!···ऐसी आफत में निकल पड़ा है!'

काश, कोई उसके अन्तर का तूफान देख पाता!

उनका मन वज्र-सा कठोर हो सकता था, लेकिन शरीर तो लोहे का नहीं था। थोड़ी ही दूर गया था, कि जाड़े से थरथराने लगा। रास्ते में न घर, न द्वार! एक पेड़ के तने के नीचे खड़ा हो गया। कुछ देर में पानी झमक कर चला गया, पर बूँदा-बाँदी होती ही रही। उसने पेड़ के तने का वह आश्रय भी छोड़ दिया।—और, फिर फिसलता-सम्हलता, गिरता-पड़ता चलता रहा!···

उसकी यह दशा देख कर शायद इन्द्र को कुछ दया आ गई—वारिश बन्द हो गई। बूढ़ा अब वेतहासा भागने लगा; और, शाम होते-होते वह सुब्रह्मण्यम् के घर पहुँच गया—वही घर, जो उसके सास-ससुर का घर था; और, जहाँ वह, जाने कितनी बार, शान-शौकत से आ-जा चुका था! और—और,

आज वह इस हालत में वहाँ पहुँचा था !

सुब्रह्मण्यम् के घर में ताला पड़ा था। गाँव वालोंने आश्चर्य के साथ कहा—'वह तो बारात साज कर गया है !'

बूढ़े की आशा तब भी न मिटी। पूछ-ताछ से मालूम हुआ—गोपाल का गाँव वहाँ से पाँच मील के फासले पर था। वह उलटे पाँव लौटा। उस गाँव में पहुँचते-पहुँचते रात के बारह बज चुके थे। बारात जनवासे में सोई थी। विवाह बारह बजे होने वाला था।

बूढ़ेने जाकर नए दामाद को जगाया; और, धड़ाम से उसके पैरों पर गिर पड़ा। फिर, आँखो में आँसू भर कर—(कदाचित् जीवन में वह पहली बार ही इतना विह्वल हुआ था, और पहली ही बार उस धीर पुरुष की आँखों में आँसुओं की ऐसी बाढ़ आई थी)—हाथ जोड़ कर बोला :

"सुब्रह्मण्यम् ! तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो, तुम्हीं मेरी सम्पत्ति के अधिकारी हो। यह अनर्थ क्यो करते हो ? लक्ष्मी को यों क्यो रुलाने जा रहे हो ? वैसी नेक स्त्री का ऐसा अपमान करते हो ?···याद रखो—तुम्हारी बूढ़ी बहन रो-रो कर प्राण दे देगी। चलो—घर लौट चलो। हमारा सर्वनाश मत करो। जो कहोगे, मैं करने को तैयार हूँ। जो चाहोगे, देने को प्रस्तुत हूँ। तुम तो मेरे सगे साले हो—ऐसी निष्ठुरता क्यों करते हो, सुब्बू ?···"

भोला दूल्हा तो डोल गया ! लेकिन उसका सयाना साला झट अपने दल-बल के साथ उसको सम्हालने आ पहुँचा। उसने

उस ससुर महाशय की ऐसी खबर ली, ऐसी खरी-खोटी सुनाई, कि वह संभ्रान्त एवं स्वाभिमानी आदमी तिलमिला उठा। उसने भी क्षुब्ध होकर कुछ नरम-गरम सुना दी। इस पर गोपाल लाठी सम्हाल कर खड़ा हो गया; और, दुत्कार कर उसने उस मूढ़ मानव को अपने दरवाजे पर से उठा दिया।

बूढ़ा तब भी दामाद की ओर, दीन दृष्टि से, देख रहा था। वह हाथ जोड़े था; और, उसके नेत्र सजल बन रहे थे! घिघिया कर उसने कहा—"दया करो, सुब्रह्मण्यम्! अपने इस बूढ़े बहनोई पर कुछ तो तरस खाओ!"

तनी-त्योरी वाले गोपाल की ओर सहमी दृष्टि डाल, और साहस बटोर कर, सुब्रह्मण्यम् बोला—"चले जाओ यहाँ से—धन लेकर मैं धर्म बेचना नहीं जानता!...लक्ष्मी असती है!"...

कमर पर लाठी लगने से जिस प्रकार साँप ऐंठ जाता है, बूढ़ा भी उसी तरह ऐठ गया; और, कुछ क्षण यों ही ऐंठता रह गया। फिर तैश में आकर उसने ईंट का जवाब पत्थर से देना शुरू किया। इसपर सुब्रह्मण्यम् तो संकुचित हो गया, पर गोपाल ने अपनी लाठी उठाई; और, आँख मूँदकर चला दी उस जरा-जर्जर प्रथित पुरुष के ऊपर! लाठी खाकर वह कमजोर-काय भला आदमी अधमरा-सा औंधे-मुँह, जमीन पर गिर पड़ा। लेकिन तारीफ तो यह, कि एक आह भी उस सत्याग्रही के मुँह से न निकली। दूसरी लाठी पड़ने ही वाली थी, कि गाँव वालों ने गोपाल के हाथ से लाठी छीन ली; और, विह्वल बूढ़े को

उठाकर कहा—"जाओ, बाबू—किसी के मंगलकार्य में बाधक बनने क्यों आए हो? अपनी जान लेकर चले जाओ।··· तुम्हारा सोना अगर खरा होता, तो आज बारात साज कर लोग यहाँ आते ही क्यों?"

ओले-तूफान में, केले के पत्तो-जैसा जर्जर बना, वह मर्माहत पुरुष जाने किस प्रकार घर लौटा; और, विधि का वैचित्र्य कैसा—कि सधवा होते हुए भी लक्ष्मी वैधव्य-वेदना से भी बढ़कर मनोव्यथा पाने लग गई!···

कैसी विडंबना है!···माँ दुर्गे! तुम भी तो आखिर नारी ही थी—फिर अपनी प्रलयंकर हुंकार से, समस्त सचराचर को कंपित करती, तुम पुनः क्यों न घोषित कर देती हो :

"यो मां जयति संग्रामे, यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके, स मे भर्ता भविष्यति॥"

इधर ग्रीष्मावकाश में घर न जाकर आंजनेय, सदा की भाँति, भूषणजी के ही यहाँ आ गया। आते ही, लक्ष्मी के दुर्दिन के प्रति, परिवार वालों के साथ उसने भी आठ-आठ आँसू बहाए। लेकिन उसके वे आँसू मगर के आँसू थे; क्योंकि उसका 'मन-मयूर' भीतर-ही-भीतर उल्लास से नाच रहा था।

उसके जीवन-जहाज का बंदरगाह कहाँ खड़ा है—उसके लौहपिंड का चुंबक कहाँ चमक रहा है, यह रहस्य शैलजा खूब समझती थी, और, इसी से वह रँगा-सियार उसे फूटी आँख नहीं

भाता था ! एक दिन शैलजा को मालूम हुआ, कि आंजनेय के पिता बीमार हैं। बस, उसने व्यंग्य से पूछ दिया—"आपके पिता सकुशल तो हैं न ?"

"नहीं"; अत्यन्त झेंप के साथ आंजनेय ने जवाब दिया। सुना है, बीमार हैं !

"फिर आप उन्हें देखने भी नहीं गए ?"

कुंठित होकर आंजनेय बोला—"कैसे जाऊँ ? परीक्षा की तैयारी में व्यस्त हूँ। अभी घर चला जाऊँ, तो झंझट से निकलना ही मुश्किल हो जाए। फिर इस साल पास होना ही असंभव—बरसों की मेहनत पर पानी फिर जाएगा !"

शैलजा—"आखिर यह 'पास' लेकर होगा क्या ? बीमारी में ही तो डाक्टरी का उपयोग होता है !"

आंजनेय—"नीम-हकीम खतरे जान ! घर पर इलाज तो होता ही होगा। मैं जाकर क्या करूँगा ?" आंजनेय की आँखों में बाँकपन और स्वर में सर्प-दंश आ गया—"कालेज की पढ़ाई का हाल तुम क्या जानो ! कभी पास हुई होती, तब तो समझती, कि 'पास' में कैसा जादू है ?···हाँ, लक्ष्मी से पूछो—वह उसका मर्म समझा देगी !"

शैलजा को बात लग गई। वह कुछ व्यंग्य बोलना ही चाहती थी, कि लक्ष्मी वहाँ आ पहुँची। उसके आते ही दोनों-के-दोनों चुप हो रहे।

लक्ष्मी का मुख-मंडल गम्भीर था। गरल घूँट पीकर भी

उसमें उद्विग्नता नाम को नहीं दीखती थी। वह यों शान्त थी, मानों उसको कभी कुछ हुआ ही नहीं! लेकिन देखने वाले तो खूब जानते थे, कि कैसा भयंकर बवंडर उसने रोक रक्खा है—अपने उस करुण-कोमल हृदय में!···

आते ही, सहज प्रसन्नता प्रगट करती, लक्ष्मी बोली—"मैं भी सुनूँ जरा—क्या बहस हो रही है दोनों तर्क-तीर्थों में?"

हँसने की प्रेरणा को रोककर आंजनेय ने कहा—"यही—कालेज की पढ़ाई की बात चल रही थी। शैलरानी कहती है—'पास' में क्या रखा है?···तुम्हीं कहो—भला उसकी महिमा वह क्या जाने!"

लक्ष्मी पास बैठकर, विनोद से बोली—"सच ही तो, भला यह कब पास हुई! क्यों शैलजा, मैट्रिक्युलेशन में कितने महीने पढ़ा था?"

शैलजा चुप थी; और, आंजनेय खिलखिला रहा था!

लक्ष्मी ने शैलजा की ठोड़ी पकड़ कर कहा—"अगर विवाह न हो गया होता, तो क्या मेरी बहन पास न हो जाती? पढ़ने में क्या यह कम तेज थी?···क्यों जी, क्या अब भी पास न होने का मलाल जी से नहीं गया है? और, इसीलिए आंजनेय से झगड़ रही हो! ऐसा नहीं करना, रानी,—आंजनेय अब डाक्टर होगा—और, डाक्टर से डाह करना अच्छा नहीं। कहीं चिढ़ कर वह कड़वी दवा पिला दे···कहो—तब क्या करोगी, शैल?"

आंजनेय उछल पड़ा—"और—कहीं नश्तर की जरूरत पड़ी, तब न बाजार-दर मालूम होगी !"

शैलजा तुनक कर चली गई। लक्ष्मी के भावों का मर्म समझ कर भी वाणी का व्यंग्य बर्दाश्त न कर सकी !

शैलजा के चले जाने पर आंजनेय ने गम्भीर होकर सहानुभूति दिखाई—"यह तो महान् अनर्थ हो गया ! सहज साधु-पुरुष पर यह कौन-सी सनक सवार हो गई ?"

लक्ष्मी कुछ न बोली। केवल दूसरी ओर घूम कर, दालान की कड़ियाँ गिनने लगी।

आंजनेय—"तुम-सी देवी की यह दुर्दशा !"

लक्ष्मी—"पुरुष ऐसा ही कृतघ्न और नीच होता है, आंजनेय !"

आंजनेय—"मणि की परख भी तो हो किसी को—

'गयो गरब गुन को सबै, बस्यो गँवारो गाँव !'

लक्ष्मी अन्य-मनस्क भाव से एक तिनका तोड़ने लगी।

आंजनेय—"समाज ऐसा अन्धा है, कि आँखें बन्द कर सम्बन्ध कर देता है—योग-कुयोग कुछ नहीं देखता ! यह तो घोर अत्याचार है !"

चालाक पुरुष प्रतीक्षा में था, कि लक्ष्मी कुछ हाँ-हूँ करे, लेकिन वह चुपचाप उठ कर अन्दर चली गई। आंजनेय हवा में सिर्फ एक सर्द आह का अनुभव कर सका। उसका मन अस-

मंजस में पड़ गया।

उसी दिन, चार बजे शाम को :

लक्ष्मी और शैलजा बाग में टहलने गई। यह देख कर आंजनेय ने अपना षोड़श शृंगार किया। खुसबूदार वेसलिन डालकर बालों में कंघी की, लेकिन लाख पुचकारने पर भी, भौंरी के पास खड़ा गुच्छा, नटखट लड़के की तरह, अकड़ा का अकड़ा ही रह गया! वैसलिन, स्नो, ब्रश, हाथ—किसी का कोई असर उसपर नहीं पड़ा। झुँझला कर उसने कंघी पटक दी—और सूट-बूट-नेकटाई की कसाई-तनाई शुरू कर दी। झट बूट पर पालिश कर डाली, और ब्रश से रगड़ कर खूब चमका दिए। मोजे चढ़ाए और वासकोट के ऊपर मखमली काला कोट डाट लिया। फिर आईने में गौर से स्क्रीन वाली वह सज-धज देखी; और, कुछ सोच कर सिर हिलाया—'ठीक!—बहुत ठीक!'······लेकिन दूसरे ही क्षण उसका विचार बिलकुल बदल गया—"यह ड्रेस तो वह पसंद नहीं करती!—उसे तो कुछ दूसरा ही भाता है!"

बस, उसने झट-पट सब कुछ खोल कर फेक डाले; और सूट-केस से सफेद चूड़ीदार पैजामा, आसामी-अंडी का सुनहला पंजाबी जुब्बा, और धूप-छाँही रंग की कश्मीरी ऊनी जैकेट निकाल कर पहन लिए। जैकेट की जेब से सुनहली क्लिप वाली '61' पार्कर फाउन्टेन-पेन लगाई, कलाई में सोने की चेन वाली

'ओमेगा' घड़ी बाँधी, लैवेंडर से लहराता रेशमी रूमाल हाथ में लिया, फैशन के विश्वासी साथी, सुनहले फ्रेम में कसे चश्मे नाक पर चढ़ाए; और फिर आइने के पास आ कर कुतूहल से खड़ा हो गया :

"हाँ, यह उसके मन का होगा !"

दस एकड़ से ज्यादा जमीन में वह विशाल बाग था। उसके चारों ओर ऊँची चहार-दीवारी खड़ी थी। उत्तर-दक्षिण, दोनों तरफ, लौह-फाटक लगे थे। बाग में आम, अमरूद, अनार, नारंगी, सपाटू, नारियल, केले, कटहल—आदि के बड़े-बड़े पेड़, मनोरम सघनता और छाया लिए, खड़े थे। बेले-बासंती, मन्दार-मालती, चंपा-चमेली आदि की क्यारियाँ चारों ओर शोभा और सौरभ बरसा रही थीं।

बाग के बीचों-बीच एक छोटा-सा रमणीक तालाब था। उसके चारों घाट पक्के थे। उनकी सीढ़ियाँ जमीन तक चली गई थीं। किनारे पर हरी-भरी दूब का मखमली बिछौना बिछा था। पूरब तरफ एक छोटा-सा सफेद पत्थर का चबूतरा था। उस पर मौलसरी का, सुंदर छतरी के समान, एक गोल-मोल पेड़ चुपचाप खड़ा था। जरा-सी हवा चलते ही उसमें से हजारों फूल एक साथ झर-झरा पड़ते थे। चबूतरे पर बैठने वालों ने शतरंज का गढ़ भी बनवा लिया था। तालाब के चारों तरफ पत्थर की बाहूदार बेंचें पड़ी थीं।

दोनों बहनें चबूतरे पर बैठकर शतरंज खेल रही थीं। बीच-बीच में उनकी हँसी और किलकारी गूँज उठती थी।

आंजनेय धीरे-धीरे जाकर, कुछ दूर, बेंच पर बैठ गया। खेल में मग्न लक्ष्मी ने, विना सिर उठाए ही, कहा—"शैलजा मुझे मात देने पर तुली है; जरा मेरी मदद तो कर देना, आंजनेय !"

आंजनेय सोत्साह उठा; और, धीरे-धीरे चबूतरे पर चला गया।

किश्ती के जोर पर वजीर को रखकर शैलजा ने उल्लास से कहा—"मात !"

आंजनेय गौर से गोटियों की जाँच करने लगा; और, सहसा उछल कर, उसने वजीर उठा लिया—पील उस पर लगा था। शैलजा विस्मित रह गई ! जीती बाजी वह हार गई !···झल्ला कर उसने गोटियाँ समेट लीं—"अब न खेलूँगी !"

दोनों हँस पड़े।

शैलजा मुँह लटकाए उठकर वहाँ से चली गई।

लक्ष्मी हँसी—"शैलजा चिढ़ गई है !"—फिर कुछ सोचकर बोली—"खेल में भी चिढ़ना !"

आंजनेय सिर्फ उसकी ओर देखता रह गया।

लक्ष्मी की हँसी का हलकापन तुरत एक उदासी में बदल गया—"यह दुनिया ही खेल है !—यह न समझकर हम पागलों की तरह हँसते-रोते रहते है !'

आंजनेय को कुछ नहीं सूझा, तो घड़ी में चाभी देने लगा।

लक्ष्मी ने पश्चिम में सूर्यास्त होते देख कर कहा—"देखो—सूरज डूबा जा रहा है।—कहाँ गया उसका वह दमकता हुआ दर्प ?"

आंजनेय ने तुरत पूरब की ओर देखकर मुसकराते हुए कहा—"देखो—चन्द्रमा उगा आ रहा है !"

लक्ष्मी भी मुसकुरा उठी—"ठीक—एक का पतन और दूसरे का उत्थान—यही तो दुनिया है !"

आंजनेय का हृदय, जाने क्यों, गुद-गुदा आया। वह कुछ कहना ही चाहता था, कि लक्ष्मी धीरे-धीरे गुनगुनाने लगी :

"दुनिया में सब कुछ परिवर्तनशील है। किसी में कहीं कोई स्थिरता नहीं। अभी-अभी सूरज का साम्राज्य था; कहाँ चला गया वह ? चन्द्रमा आया है; वह भी चमक कर चला जाएगा।···सच, यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं !"

आंजनेय चौंका; और, उत्साह से भर गया—"एक वस्तु स्थिर है, लक्ष्मी। यह···"

लक्ष्मी—"हाँ, यह गमनागमन—यह आना-जाना और जाना-आना—अवश्य स्थिर है। इसमें कोई परिवर्तन—कोई रद्दो-बदल नहीं होता है। धग्-धग् करता सूर्य कल फिर आएगा, चम-चम करता चन्द्रमा फिर बेशर्म होकर चमकेगा, सुबह-शाम की सीढ़ियाँ फिर-फिर, आसमान में चढ़ती-उतरती रहेंगी। सब कुछ पुनः-पुनः होंगे। लेकिन···"

"लेकिन, यह जीवन, यह यौवन, यह अनुराग और यह

संयोग—फिर नहीं मिलेगा, लक्ष्मी !"

लक्ष्मी का स्वर कुछ व्यथित हो गया—"नहीं, आंजनेय ! जीवन भी तो मिलेगा—अमर आत्मा, बार-बार नूतन वेश धारण कर, धरातल पर उतरेगी। फिर भी हृदय की यह अधीरता सही नहीं जाती है—ज्ञान हमारे अन्तर के उद्वेग को दबा नहीं पाता है।···जाने ऐसा क्यों होता है !"

आंजनेय सिर्फ उसका मुँह देखता रह गया! कुछ देर के बाद, भावावेश में आकर, वह बोला :

"लक्ष्मी ! प्रेमी, अपनी उपेक्षा से ही, अधीर हो उठता है। प्रेमी-हृदय प्रेम की ऐसी अवहेलना क्यों करता है—आश्चर्य ! क्या वह हृदय की परख नहीं रखता है ?—इस पर विश्वास तो नहीं होता !"

लक्ष्मी कुछ उन्मन होकर कहने लगी—"प्रेम भी परिवर्तन-शील होता है, आंजनेय !, परिस्थितियाँ उसे भी उलटती-पलटती रहती है : देखो न, उत्फुल्ल कमल पर भौंरे किस तरह भीड़ लगाए रहते हैं; पर, उसके मुरझा जाने पर—वे पास नहीं फटकते !"

आंजनेय—"कमल प्रेमी है, सूर्य के प्रति उसका अनुराग अटल होता है। सूर्य भी उसके अनुराग से खिंच कर सस्मित वदन बार-बार आया करता है। चकोर प्रेमी है; चन्द्रमा को ही भजता है। पपीहा पी-पी करके प्राण तज देता है, पर स्वाति का ही जल पीता है।···मीन···"

लक्ष्मी का मुख-मण्डल उपेक्षा से कुछ कुंचित हो गया; और, वह किंचित् दर्प-दीप्त होती बोली—"वे जड़-प्राणी हैं, आंजनेय। प्रकृति उन्हें प्रेरित करती रहती है। उनमें वह आत्म-बोध नहीं होता है, कि अपने भावावेग को वे घटा-बढ़ा सकें। वे बने-बनाए ढर्रे पर, आँख मूँदे चले जाते हैं। उनके स्वभाव में कोई व्यतिक्रम नहीं होता है। लेकिन चेतनशील मानवों में साँचे की वह ढलाई नहीं हो सकती। परिस्थितियाँ उनकी संवेगानुभूति को घटाती-बढ़ाती रहती हैं। इसीलिए उनका प्रेम और द्वेष भी बदलता रहता है।···जो आज किसी का नयन-तारा बना है, कल वही आँख की किर-किरी हो जाता है! कल जिसके इशारे पर कोई नाचता-फिरता था, आज उसे पैरों तले रौंदता चला जाता है!—अतएव प्रेम भी परिवर्तन से परे नहीं होता, आंजनेय!"

आंजनेय में एक अपूर्व सरगर्मी आने लगी—"कदापि नहीं" —कहकर वह वहीं चहल-कदमी करने लगा—"लक्ष्मी! प्रेम दैवी प्रेरणा है। उसमें सूखा और बाढ़ नहीं—वह समरस रहता है। और जो पामर प्रेम करने का पाखंड रचते हैं, गिरगिटिया रंग वही बदलते रहते हैं!"

लक्ष्मी ने आंजनेय की ओर मर्म-भेदी नजर डालकर कहा— "यह तुम्हारी भावुकता है, आंजनेय! वास्तविक जगत् में वैसा प्रेम कहाँ मिलता है?—जहाँ देखो, वहाँ—तोता-चश्मी कथा ही कही-सुनी जाती है!" कहकर लक्ष्मी मंद हास्य से भर गई—

"प्राचीन पोथियों में भी, तो मधुकर-व्रतियों की ही, गाथाएँ गाई गई है, आंजनेय !"

लक्ष्मी भी उठ खड़ी हुई, और, वहीं पद-चारण करने लगी—जैसे, वह बहुत-कुछ भूली बातें याद कर रही हो। उसकी आँखो में एक अपूर्व चमक झिल-मिलाने लगी। लेकिन वह सोचती ही रह गई।

आंजनेय—"मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र को तुम क्या समझती हो ?—वह तो आदर्श-प्रेमी थे न ?"

लक्ष्मी चमत्कृत हो उठी—"रामचन्द्र भी भीषण कठोर थे, आंजनेय। उनका प्रेम उनकी कठोरता में छिप जाता है !···याद करो—उन्होंने ज्वाला-जाल से निकली अपनी शुद्धात्मा 'द्वि-जीवा' सीता को घर से केवल निकाल ही नहीं दिया—निर्मम होकर उसे जंगली जानवरो के बीच घोरारण्य में छोड़ भी दिया !"—कहते-कहते लक्ष्मी के रोंगटे खड़े हो गए।

इतने में शैलजा ने आकर कहा—"अम्मा बुलाती है तुम्हें !"

लक्ष्मी शैलजा के साथ चली गई।

आंजनेय वहाँ टहलता रहा। उसका हृदय फटा जा रहा था—कहाँ से खोज लाए ऐसा प्रेमी, जिसमे लक्ष्मी कोई दोष न दिखा सके। क्या कृष्ण ?—ओह, वह 'रास-रसिक' तो भारी धोखेबाज थे ! प्रीति की पुत्तलिका, अनुराग की अरुणिमा और त्याग की तरिणी राधारानी को उस नटवर ने आजीवन आह

और आँसुओं में ही सराबोर रखा !···

आंजनेय भी दालान में आ गया। शैलजा वीणा लेकर बैठी थी; और, चाहती थी, कि लक्ष्मी उसे सिखाए। लेकिन कुंठित-मना आंजनेय ने आकर कहा—"महादेव को निर्दोष प्रेमी मानती हो, लक्ष्मी ?"

लक्ष्मी नत-मस्तक होकर वीणा के तारों को ठीक कर रही थी; बिना सिर उठाए ही बोली—"वह आदर्श भक्त थे, भाई—प्रेमी नहीं। सरला 'सती' को उन्होंने भक्ति के आवेश में ही तो छोड़ दिया था ! ओफ—उस दक्ष-सुता को कैसी भीषण ज्वाला झेलनी पड़ी थी !"

लक्ष्मी एक गम्भीर आह लेकर उठ गई।

आंजनेय का हृदय-सागर क्षुब्ध हो उठा। व्याकुल होकर वह बोला—"ठहरो लक्ष्मी !—तो क्या पुरुष प्रेम करना जानता ही नहीं ?"

लक्ष्मी ने कुछ दर्प के साथ कहा—"मैं तो कहूँगी—नहीं। प्रेम हमारे ही हिस्से में पड़ा है। पुरुष अधिकांश में प्रेम का स्वांग रचता है ! प्रेम का नाम लेकर वह अकसर वासना-तृप्ति का जाल बिछाता है; और, प्रेमिका का सर्वस्व छीनकर, फिर वज्र-कठोर बन जाता है। अबला के छोटे अपराध पर, या अपराध की कल्पना ही करके, वह उससे पिण्ड छुड़ा लेता है—उसे वन-वन भटका देता है !···"

लक्ष्मी की मुख-मुद्रा विकृत होने लगी; और, उसने सीधे

आंजनेय की ऑखों में ऑख डाल दी :

"हमने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' पढ़ा और खेला भी है। कहो—वह दुष्यन्त कैसा लफंगा—कैसा धूर्त था! उसने अकेले में एक अनजान मुग्धा को देखा; फिर, लल्लो-चप्पो करके उस आश्रम-वासिनी, सरल-हृदया, शकुन्तला की पवित्र सुकुमारता चुरा ली; और, अपने कलुष को छिपाने के लिए, उस भोली-भाली निस्सहाया युवती के ऊपर लांछना का पहाड़ पटक दिया!—सकल पापो की गठरी उस सर्वहारा के मत्थे फेंक खुद 'महात्मा' बना रहा!—भला वह प्रेमी था?"

आंजनेय नमित-मुख माथा खुजलाने लगा—"वह तो दुर्वासा के शाप का प्रभाव था, लक्ष्मी। नहीं, तो वह प्रेम-सम्राट् वैसी निर्दयता कभी कर सकता था?···आखिर, जब उसे अपनी भूल मालूम हुई, तो कितना रोया, कितना पछताया, कितना अनुताप-आकुल हुआ! फिर जब शकुन्तला से भेंट हुई, तो उससे कैसी अपूर्व क्षमा-याचना की उसने!···याद करो—विश्व के इतिहास में प्रेम-परिताप का ऐसा विस्मयोत्पादक आदर्श तुम्हें कहीं खोजे भी मिलता है?···सोचो तो भला—एक विशाल देश का सार्वभौम सम्राट् एक भिखारिणी के आगे नत-मस्तक हो जाता है—और, अपने अश्रुजल से उसके चरण धोकर, उससे कैसी मर्म-स्पर्शी क्षमा-याचना करता है!—ऐसे अद्भुत और अपूर्व प्रेमी को 'लफंगा' कहती हो, लक्ष्मी?"

लक्ष्मी ने अत्यन्त लापरवाही से ही नहीं, कुछ उत्तेजित

होकर भी कहा—"लफंगा तो वह था ही। उसके रनिवास में रानियाँ रो रही थीं; और, वह लोचन लड़ाता—बहेलिए की भाँति, जाल बिछाता फिरता था!···सूने आश्रम मे, फूली लता की तरह, उस अबोध बाला को देखा,—और, उसे निस्संकोच फाँस लिया!···उसने कभी सोचा भी नहीं होगा, कि दुर्गम गिरि-अरण्य को पार करके एक कुसुमित-यौवना मुनि-कन्या, उसके पाप की गठरी उठाए, किसी दिन उसकी महा-महिम राज-सभा में आ खड़ी होगी!···और, जब वह असंभव संभव हो गया—तब अकचकाकर वह महात्मा साफ झूठ बोल गया!!···सात घाट का पानी पिए हुए निश्चिन्तमना उस धूर्तराज के स्वप्न में भी नहीं आया होगा, कि उसके पापों की कथा कहने, वह नादान लड़की, उसके अभेद्य गढ़ तक पहुँच जाएगी—सो भी आश्रम-वासियों के साथ!···आंजनेय! समाज में ऐसी घटनाएँ आए-दिन घटती रहती हैं; और, चतुर-चालाक शिकारी साफ छूट जाता है। फिर वैभव-विलासी उन राजा-रईसों की गुप्त लीलाओं की तो चर्चा ही फजूल?—जिधर उनकी उन्मद नजर उठी, उधर कहर टूटा!!···"

लक्ष्मी एक अजीब जोश-खरोश के साथ कहती गई—"सच पूछो, तो दुष्यन्त स्वभावतः दुश्चरित्र पुरुष था। कौन जाने ऐसे कितने शिकार उसने फँसाए होंगे! शकुंतला भी उसका एक साधारण शिकार थी। लेकिन वह 'धर्मावतार' नराधिप, अपनी शानदार सभा में उस विवर्ण फूल को, कैसे पहचानता? आँखें

बदलकर बोला—'कौन हो तुम ?···मैंने तो कभी नहीं देखा था तुम्हें !—चालाक औरत ! दूर हट यहाँ से—कोयल की तरह, कौए से अपना बच्चा पलवाने चली आई यहाँ !···किसने यह नेक सलाह दी तुम्हें ?···आश्रम की लड़कियाँ भी कहीं ऐसी धूर्तता करती हैं ?'···"

लक्ष्मी की वाग्धारा और भी तेज हो गई; और, उसके विभा-भरे भाल पर करुणा की क्षीण छाया डोलने लगी। वह कभी दीवारों पर, तो कभी आंजनेय के अप्रतिभ वदन पर दृष्टि-पात करती, कहती गई :

"उस निर्यातित नारी की मुग्ध-आत्मा को कड़ी ठेस लगी। पुरुष की नग्न-लोलुपता को उसने अब पहचाना; और, एक बार अपने मुँह पर से संकोच का पर्दा हटा कर उसके पापों की गठरी भरी-सभा मे खोल दी ! कारण—यद्यपि शकुन्तला भोली थी, छल-कपट की दुनिया से एकदम दूर थी, कला-कौशल कुछ नहीं जानती थी; फिर भी वह वहाँ पली थी—जहाँ दिन-रात वेद और उपनिषदों के अमर निर्घोष होते रहते थे। उसी धर्म-पीठ ऋष्याश्रम में उसने आँखें खोली थी।···"

कहती हुई लक्ष्मी कुछ संकुचित हो गई; और, धीमी आवाज में बोली—"हाँ, नवयौवन की उकसाहट, और अप्सराओं के रुधिर-दोष के कारण, वह उस लफंगे के माया-जाल मे आसानी से पड़ गई।···परन्तु, जब नशा उतरा; और, उसने कपटी का वह कुत्सित रूप देखा···और, मानवता को लजा

देने वाली उसकी ढोंग-भरी बातें सुनीं—तब उसकी सोई आत्मा सन्-सन् करके—साँप की तरह फुफकार मारकर—जाग उठी! बस, राज-दरबार में उसने उस छलिया को उधेड़ कर छोड़ दिया। एक सरला तापस-कन्या की तीव्र फटकार सुन कर उस धूर्त-राज की सारी हेकड़ी बन्द हो गई—और वह अन्दर-ही-अन्दर कट कर रह गया! अपने राजा की नस-नस पहचानने वाले राज-सभा के सभी सदस्य यथार्थ तो जान ही गए थे! इसीलिए राज-मंत्री ने शकुन्तला को राज-पुरोहित के घर में रखने की सलाह दी! इसी एक बात से राजा का चरित्र स्पष्ट हो जाता है। यही कारण था, कि महाभारत-कार उससे आगे नहीं बढ़े—वहीं रुक गए। पर महाकवि कालिदास को तो लक्षण-ग्रन्थानुसार एक धीरोदात्त 'धर्मात्मा' नायक की जरूरत थी—अपने नाटक के लिए। इसीलिए उनके उपजाऊ मस्तिष्क ने 'शाप' की कल्पना की; और, अपने 'नायक' के पापों पर उन्होंने काला पर्दा डाल दिया!"

आंजनेय मंत्र-मुग्ध हो रहा था; फिर भी किंचित् आशंका से उसने जिज्ञासा की—"अगर वह प्रेमी न होता, तो फिर उस धूल-धूसरिता को जंगल से लाकर स्वर्ण-सिंहासन पर बिठा क्यों देता?—तुम्हीं सोचो न जरा।"

लक्ष्मी सरलता से मुसकुरा उठी—"पापी का पाप, भीतर-ही-भीतर, उसे काटता रहता है। भंडा तो फूट ही गया था; अतएव वह अपराधी भी अनुताप और आत्म-ग्लानि की आग में

जलने लग गया। और जब उसने शकुन्तला के तपस्या-निरत जीवन को देखा, तब उसकी लज्जा और अपार हो उठी।···वह महा-भाग पुत्र-हीन भी तो था—उसने जब देखा, कि उस तपस्विनी की गोद में एक ललाम वीर-पुत्र भी खेल रहा है, तब वह निस्संतान नर अपने पुत्र-लोभ को न रोक सका; और, अपने पीछे सारे समाज का समर्थन देखकर, उसने शकुन्तला को धूल से उठाया; और, उसे रत्न-जटित सिंहासन पर बिठाकर 'राजरानी' बना दिया !"

आंजनेय पूरा परास्त हो गया था; किन्तु, कुण्ठा को दबा कर बोला—"खैर, उसको छोड़ो। पर, यह तो बताओ, कि महादेव के 'पार्वती-परिणय' का रहस्य क्या था—क्या वहाँ तुमको विशुद्ध प्रेम नहीं दीखता है, लक्ष्मी ?"

लक्ष्मी मन-ही-मन मुसकुराने लगी, और, उसी स्वर-मार्दव से बोली—"वहाँ भी वही षड्यन्त्र दीखता है। कुमार की उत्पत्ति की विवशता ही 'पार्वती-परिणय' का मुख्य कारण हो गई थी। ऊपर से उस तरुण तपस्विनी का अनुपम सौन्दर्य भी सहायक हुआ। काव्य का 'कुमारसम्भव' नाम ही इसका प्रमाण है !"

आंजनेय एक अद्भुत आवेश में आ गया; और, छाती फुला-कर बोला—"नहीं, लक्ष्मी ! तुम्हारे तर्क-जाल भ्रम-भरित हैं—पक्षपात पूर्ण हैं। तुम यथार्थ पर परदा डाल रही हो। पुरुष-जाति पर अत्याचार कर रही हो ! महादेव-सा प्रेमी विश्व-सृष्टि में और

कौन होगा? उनका प्रेम तो इतना ऊँचा है, कि वह 'अर्द्धनारीश्वर' कहलाते हैं—आधे अंग से स्त्री, और आधे से पुरुष! कहो—है कोई समता उनकी सारे संसार में?···है कोई कहीं ऐसा प्रेमी वसुंधरा के किसी अंचल में?···विश्व के किसी कवि ने कभी ऐसी कल्पना भी की है क्या? नारी को आजतक ऐसा सम्मान कभी किसी ने दिया है क्या?—और अवध-पति रामचन्द्र ने, उर्वीजा सीता के विरह में, जैसी भीषण ज्वाला झेली, वह तो विराट् कवि वाल्मीकि की लेखनी से भी ठीक-ठीक नहीं लिखी जा सकी!—"

कहते-कहते भावोर्मिल आंजनेय जैसे लंका के उस रण-क्षेत्र में राम को घेर कर चक्कर लगाने लग गया हो—"वनवासी राम ने, सीता के लिए, सोने की लंका को खाक में मिला दिया! देवता के वरदान से गर्वीला बना वह दस-सिर और बीस-भुजा वाला रावण, उस अकिंचन धनुर्धारी के पैने बाणों को न सह सका; और, देखते-देखते कैलास को तौलने वाला वह पागल महाप्राण मिट्टी में मिल गया—मानों राम के वे बाण सीता के अजस्र प्रेम और विरह की गुरुतर तीव्रता-तीक्ष्णता को ही लेकर रण-क्षेत्र में उड़ रहे थे!···नारी के प्रति ऐसे प्रेम और विरह की, अकिंचन प्रेमी के ऐसे अनुपम साहस, धैर्य और शूरता की मिसाल तुम्हें कहाँ मिलेगी, लक्ष्मी? अकेले राम, चराचर-जयी उस दशकंठ के सामने, महाकाल की तरह विकराल बनकर खड़े हो गए—जैसे सीता का प्रेम ही चरम शक्ति-पुंज बनकर,

चारों ओर से उन्हें घेरे हुए था !"

भावालोक में भ्रमण करते-करते आंजनेय राम के रस में लीन-सा होने लगा। उसके नेत्रों में वह त्रेतायुग, ही नहीं, समस्त मानव-युग ही नाच उठा; और, युगों के अतल तल में जाकर, ऊर्मिल-मानस एवं धूमिल-नयनों से देखता वह बोला—"लक्ष्मी ! जिस युग ने, अपने वक्ष पर खेलती राम की वह प्रेम-मूर्ति देखी, वह उसे अपने में समाए न रख सका। एक के बाद एक नवागत युग ने, नूतन उल्लास से, राम की कीर्ति गाई; और, कोटि-कोटि मानवों के कण्ठों में ही नहीं—उनके जीवन-मरण में भी, राम के नाम की अमर छाप बिठा दी !…"

आंजनेय कुछ क्षण चुप हो रहा; फिर आलोचना के स्तर पर उठकर, झिझक और हिचकिचाहट के स्वर में, कहने लगा—"हाँ, राम ने सीता को अपने घर से निकाल कर रूढ़ अविचार अवश्य किया था, पर अनुताप से गलकर उन्होंने आखिर उसकी स्वर्ण-प्रतिमा बनवाई, अपने वामांग में उस मूक मूरत को बिठाया; और, भूतल में अतुल उस महान् अश्वमेध यज्ञ की पुण्य-गाथा से दिग्-दिगन्त को मुखरित बना दिया !…कहीं पाती हो नारी के प्रति इस अनन्त और आकुल प्रेम का दूसरा उदाहरण ?…यों ऑखों में धूल मत झोंको, विदुषी ? हम दोनो आखिर एक ही चटसार के चट्टे-बट्टे तो है !" अन्तिम वाक्य कहते-कहते वह कुछ मुसकुराने भी लगा।

लक्ष्मी का मुख प्रसन्न मुद्रा से प्रदीप्त हो उठा; और, कृतज्ञ

होती वह बोली : "तुम्हारी भावुकता मुझे बड़ी प्रिय लगी है, आंजनेय !—सच, तुमने जिस दिव्य-दृष्टि से राम को देखा है, वह अद्भुत है—बेमिसाल है ! मैं मुक्त-कंठ से उसकी दाद देती हूँ। मेरा रोम-रोम एक पावन पुलक से भर गया है ! वस्तुतः इसके लिए मैं तुम्हारी परम कृतज्ञा हूँ, आंजनेय। तुमने मेरी हिलती आस्था को अनुपम आह्लाद से स्थिर कर दिया है। अतएव मेरा आन्तरिक साधुवाद ग्रहण करो !"

आश्चर्य—सचमुच वह मुग्धात्मा उठ खड़ी हुई; और, उसका दोनों हाथ पकड़ कर उसने जोर से झकझोर दिया !

आंजनेय गद्गद हो गया। उसके स्नेह-भरित निर्मल नयन और शिथिल अंग-प्रत्यंग श्रद्धा-जल से सिक्त हो गए ! वह धन्यवाद के लिए कुछ कहना चाहता था, लेकिन जल्दी में कोई उपयुक्त शब्द, या वाक्यांश वह ढूँढ़ न सका। मति-मूढ़-सा वह लक्ष्मी का मुँह अवाक् होकर देख ही रहा था, कि बाहर सुनाई पड़ा—'तारवाला !'

आंजनेय के उठने के पहले ही, तार लेकर, शैलजा आ पहुँची; और, आंजनेय के हाथों में लिफाफा डाल कर वह उत्सुक भाव से देखने लगी।

तार 'अर्जेंट' था।

घबड़ाकर आंजनेय ने लिफाफा फाड़ा। तार कह रहा था—

'पिता चल बसे ! तुरन्त आ जाओ !'

आकाश में पुनः बलाहकों का बल बढ़ने लगा। जेठ मास का अन्त होकर कालिदास के मेघदूत का—'आषाढस्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्ट सानुम्।'—वाला मनोरम दृश्य उपस्थित हुआ!... 'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः।' (जब सुहाविनी घटा देख कर सुखी अनमने हो जाते!)—कह कर महाकविने जिस निगूढ़ मनोविज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया है—अपने जिस करुण-कातर प्रश्न से, प्रकृति-प्रेयसी के प्रेमांचल में, दिगन्त-व्यापिनी प्रतिध्वनि का विपुल विषाद भर दिया है! क्या वही प्रश्न, थोड़े-से परिवर्तन के साथ, लक्ष्मी-सी सताई हुई स्त्रियों पर भी, लागू नहीं होता?...

विरही-प्राणों के दुःख से कातर, कवि के परम दयावान, हे सुकुमार श्याम मेघ! क्या इस युग में लक्ष्मी-सी परित्यक्ता नारी का दूत बन कर ऊँचे लोक में नहीं जा सकते हो? परमात्मा के परमोच्च न्यायालय मे वकालत नहीं कर सकते हो?... शताब्दियाँ बीत गई; पर, तुम केवल दो ही प्राणियों के प्राण जुड़ा कर रह गए। फिर कभी किसी की कोई सुध न ली! क्या विरही यक्ष के सिवा कोई और तुम्हारी सहानुभूति का पात्र नहीं रह गया? आह...

मंदक्रान्ता के मनोहर आवरण में आपाद आच्छादिता, अनुपम सौन्दर्य-शीला, सद्गुणालंकृता उस कविता-कामिनी का कमनीय कान्त कालिदास, इस भव्य भूमि पर, फिर कब अवतीर्ण होगा?—जो अपनी अभिनव अलाप-लहरी से मर्त्य में

स्वर्ग तथा स्वर्ग में मर्त्य की अवतारणा करता हुआ, सुधा की अवारित धारा बहा, नारी-जीवन की शुष्क सर-सरिताओं में पुनः पुलक-प्लावन ला दे ?...

रिमझिम-रिमझिम पानी पड़ना शुरू हो गया था। रात के करीब आठ बजे होंगे। शैलजा वीणा लेकर दालान में बैठी थी; और, बहन से एक हाथ बजाने का आग्रह कर रही थी। बादल रह-रह कर गरज रहे थे। उनकी गरज से अग-जग काँप उठता था। बिजली बार-बार कौंध कर कुछ कह जाती थी। उसकी चमक के बाद अन्धकार और भी घना हो जाता था।

शैलजा का मुख देख कर लक्ष्मी ने वीणा उठाई। द्वार पर घिर आए घोर अन्धकार को देखकर वह कुछ गुनगुनाने लगी। धीरे-धीरे वीणा की झंकार के साथ उसका वह गान वायु-मण्डल में लहराने लगा—जैसे वह मेघ-गर्जन के ऊपर विजय पाने की कोशिश कर रहा हो।

भारतीभूषण 'टेबुल-लैम्प' की रोशनी में 'स्वराज्य' पत्रिका देख रहे थे। उनकी सजल आँखें अखबार के कागज पर थीं; और कान लक्ष्मी के गान में—

"गरज, गगन के गान, गरज गम्भीर स्वरों में।
भर अपना सन्देश उरों में, औ' अधरों में।
बरस धरा में, बरस सरित, गिरि सर-सागर में।
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षण भर में॥"

लक्ष्मी का गान, धीरे-धीरे, रुदन में बदल गया। उसकी आँखों से आँसू यों ही उमड़े चले जा रहे थे। उधर प्रकृति रो रही थी, इधर प्रकृति की प्रतिमा। वह इस तरह कभी कातर न हुई थी।

शैलजा ने बहन को चुप करने की बहुत कोशिश की, लेकिन व्यर्थ! लक्ष्मी का हृदय और भी कातर हो गया। रोते-रोते उसकी हिचकी बँध गई।

पीड़ा के पदाघात से व्याकुल वृद्ध पिता से न रहा गया। दालान से दौड़ा आया; और, तौलिए के एक छोर से उसने अपनी आँखें पोंछी—और दूसरे छोर से लक्ष्मी की। उसका हाथ काँप रहा था, हृदय हहर रहा था, वाणी मूक थी। जीवन की सबसे बड़ी भूल, सबसे बड़ा परिताप, सबसे बड़ी सजा मानों उसके सामने आ खड़ी हुई हो!

पानी गम्भीर गड़गड़ाहट के साथ बरसने लगा था। अद्भुत चमक बिखेर कर बिजली की भयंकर कड़क होती थी। कानों के पर्दे को फाड़कर वज्रपात होता था; और, वहरती घन-राशि—अन्तरिक्ष और भूतल को एक करके—पागलों की भाँति दौड़ लगा रही थी।

इधर भूतल पर पड़ी हुई पुरुष-प्रतारिता रमणी का कातर क्रन्दन घर वालों के कलेजे पर कटार फेर रहा था।

शैलजा व्यग्र होकर बहन से लिपट गई थी। बूढ़ा अकबक खड़ा था! रसोई-घर से सुभामा दौड़ी आई; और, बेटी का

सिर अपनी गोद में रखकर, अविरल अश्रु-धारा वहाने लगी। आँसू की वह गरम धारा एक ऐसे हृदय से निकली थी, जिसकी कमर टेढ़ी हो चुकी थी—शरीर की शीर्णता के कारण नहीं, वल्कि सुकुमार संतति के संताप के कारण! वह माता का संताप था, जिसकी आँखें वुझ रही थीं—किसी वीमारी से नहीं, वल्कि गोद के कोमल कुसुमों पर कराल काल के क्रूर आघातों के कारण निरन्तर आँसू वहाने के कारण! वही अभागिनी माता—जिसके चार-चार 'लाल' निष्ठुर होकर उससे ममता तोड़ गए थे! वही कोख-जली माता—जिसकी प्रथम पुत्री, सधवा होकर भी, आज वैधव्य की यातना भोग रही थी, जिसका कोमल कलेजा आत्मीयजनों के ही कृतघ्नता-कृपाण से खंड-खंड हो रहा था! ममता की मूर्ति वही विदीर्ण-हृदया माता, निश्चेष्ट-सी वनी वेटी को गले लगाकर, अनुताप की आँच से विगलित हो गई। आज पहली वार उसे अपनी विदुषी वेटी की अथाह वेदना का कुछ पता चला; और, अपनी भयंकर भूल उसकी समझ में आई। वह भूल, विकराल भूत का रूप धारण कर, उसे निर्दयता से नोचने-खसोटने लग गई!

वहिर्वृष्टि की भाँति, यह अंतर्वृष्टि भी, रुकने के वजाय, और भी तेजी से झरझराने लगी। माता, पिता, पुत्रियाँ—सव अपने उष्ण रक्त-प्रवाह को, उष्णाश्रु में परिणत करते, वियोगिनी वैदेही की जननी इस वसुंधरा के वक्षःस्थल को भिगोने लगे—घर-वाहर सव जगह जल ही जल दीख पड़ने लगा।

मगर के आँसू

स्त्रियों का स्वभाव ?

कोई क्या कहे ?—शायद जड़-जन्तुओं का भी स्वभाव वैसा वैचित्र्य-बहुल नहीं होता है ! हाँ, प्रकृति के प्राँगण में देखा यह जाता है, कि कुछ नादान प्राणी अपनी ही जाति पर बेतरह टूट पड़ते हैं—परस्पर नोच खाते हैं ! एक-दूसरे को देखकर गुर्रा उठना, उनका जन्म-जात स्वभाव होता है ! लेकिन उनमें भी एक सद्गुण अवश्य पाया जाता है : उनका वार अक्सर खुला होता है—'मनमें आन, बगल में ईंट'—वे नहीं रखते !

लेकिन, नारी-जाति की स्वाभाविक कुटिलता की समीक्षा करते कलम कुण्ठित हो जाती है। प्रातः-स्मरणीया सती-सीता-सावित्री की जाति में ही, जगह-जगह, ऐसी अंगनाएँ भी देखी जाती हैं, जो अपनी पड़ोसिनों के दुःख-दैन्य में झट आँसू बहा देती है, पर जिनकी सहानुभूति और समवेदना आन्तरिक आक्रोश, व्यंग्य, हास्य—आदि कुटिलता की ऊर्मिल उमंगों से ही भरी रहती है !

प्रत्यक्ष प्रमाण लिए जाएँ :

आज-कल कुन्दनपुर के घर-घर में लक्ष्मी ही ललनाओं के विनोद की सामग्री बनी हुई थी :

करधनी के लिए पतिदेव को कठोर चन्द्रायण-व्रत कराने

वाली; मखमली किनारी की साड़ी के लिए स्वामी को मीठी चपत लगाने वाली; शासन को न सहकर सास-ससुर को झाड़ू से झाड़ने वाली; सुन्दर अलंकारों के लिए अलंकारमयी भाषा में स्वामी का स्वागत करने वाली; विलास-लालसा के लिए कुल-गली से निधड़क निकल जाने वाली; सुहाग के सरस पर्दे के अन्दर से शत्-शत् कुकर्म करके भी इठलाती रहने वाली; पाप-ताप से तप्त होकर पुत्र का घला घोट देने वाली—सभी श्रेणी की सयानी स्त्रियाँ, आज-कल, लक्ष्मी की ओर अपनी अनामिका उठाने लग गई हैं! अपनी टेढ़ी गर्दन हिलाकर वे अपनी निर्मल हथेली चमका देती हैं!—मानो जगत् के सारे पाप-ताप सिमट-कर एक लक्ष्मी से ही लिपट गए हों—और, यह दुनिया दूध से धुल कर वेदाग बन गई हो!

किसी पड़ोसी के घर में जमा हुई दोपहर की मजलिस में, लुक-छिपकर, कुछ देर, उनकी दिलचस्प बातें क्यों न सुन ली जाएँ :

एक प्रौढ़ा ने नाक-भौंह सिकोड़ कर आँखें मटकाईं—"सच तो यह है, कि अँगरेजी पढ़ने-लिखने से ही वह बिगड़ गई। भला सैकड़ों बिगड़े दिल-दिमाग वाले युवकों के साथ बैठकर स्कूल-कालेज में पढ़ने वाली लड़की कहीं पतिव्रता का पाठ पढ़ सकती है!···अपने पाप-ताप को छिपाने के वास्ते इसने कोई दवा पी ली होगी—जिससे लक्ष्मी के सन्तान न हुई! पति भी तो भैंसा ही मिला—भला उस गँवार के साथ उस मेम

साहबा का मन कैसे मिलता !"

एक प्रगल्भा ने पहली को रोक कर कहा—"सखी पतिव्रता होना क्या गुड़ियों का खेल है ? वह तो पूर्वजन्म के पुण्य का फल होता है !···उन्हीं को देखो न—कितना कष्ट दिया मुझे, पर मैं थी, कि बेड़ा पार लगा दिया !—कभी चूँ न की, कभी कान न हिलाए; और, चौबीसों घंटे सेवा में हाजिर रही। मायके में कभी दीप जलाने भी नहीं जाती थी ! और यहाँ—सुबह से आधी रात तक खटती रहती हूँ !···और, उस रानी जी का—उस गरीब और गँवार के घर में कैसे वास होता ? वहाँ आराम-कुर्सी पर बैठकर रात-दिन नाटक-उपन्यास पढ़ना और यार-दोस्तों के बीच गुलछर्रे उड़ाने का मौका कहाँ !···"

एक नवेली ने टोककर, मर्म-भरी मुसकान से कहा—"भाभी ! तुम भी क्या कहती हो—कुछ भी नहीं जानती हो !—क्या मैं मूर्खा हूँ ? और वह भी तो 'राजा' नहीं हैं। फिर मेरे इशारे पर वह क्यों नाचते रहते हैं ? दो दिन भी मेरे बिना उन्हें कल क्यों नहीं पड़ती है ?—अभी छ: महीने भी तो मेरे आए नहीं हुए; और वह चार-पाँच बार आदमी भेज चुके हैं ! एक बार खुद आए; और नाराज होकर चले गए !···घर में यज्ञ-प्रयोजन न होता, तो क्या आज मैं यहाँ होती ? कब-न-कब वह वह मुझे खींच ले गए होते !"—फिर जरा धीरे से उसने गंभीर मुद्रा में कहा—"उसी के गाँव की एक स्त्री कहती थी—'एक अँगरेजी पढ़े-लिखे बाबू पर उसका प्रेम था। दोनों की चिट्ठी-पत्री पकड़ी

गई। फिर भी वह भला आदमी कुछ दिन आँख-कान बंद किए रहा—कुछ नहीं बोला। लेकिन, एक दिन—जब उसने अपनी आँखों से इनकी 'रासलीला' देख ली; तब देखकर भी, घी की मक्खी वह कैसे निगलता ?···छोड़ दिया; और, दूसरी शादी कर ली !···भाभी, मैं तो जानती ही थी, आंजनेय बचपन से लक्ष्मी के साथ रहता आया है !"

केश-कलाप-विहीना, सिर पर कपड़े डाले, हट्टी-कट्टी, एक सयानी, दाँतों में तर्जनी रखकर, आँखें मटकाती हुई बोली—"दीदी, यह दुनिया ही भ्रष्ट हो गई ! सच ही अब भ्रष्ट-युग आ गया !—हम लोग बेकार पुरुषों को दोष देती हैं, उन्हें व्यर्थ व्यभिचारी, जुल्मी या स्वार्थी कहती रहती हैं। अगर हमारा ही सोना खोटा रहे, तो सुनार को कोसने से क्या फायदा ? अगर हमारी चाल अच्छी रहे, तो फिर पुरुष की आँखें क्यों बदल जाएँ ?···उनका स्वभाव तो तुम लोग जानती ही हो। माता की बात में आकर मेरी क्या-क्या दुर्गति उन्होंने न कर दी ? गालियों की तो कुछ पूछो ही मत ! बेदर्दी से मारा-पीटा ही नहीं, मुझे जिन्दगी-भर जलाने के लिए, घर में उस चुड़ैल को भी लाकर रख लिया ! फिर भी मैंने जबान न हिलाई !···"

कहती-कहती वह रुकी; और, आँचल से आँसू पोंछकर फिर बकने लगी—"मेरे अभाग्य से आज वह न रहे, उनके बिना यह राज-पाट मुझे काटे खाता है—कुछ भी सुहाता नहीं ! क्या करूँ, मौत भी तो नहीं आती !···" आँसू टपकाती-टपकाती सहसा

वह मुसकुरा उठी—"और उस बदचलन औरत को वह भला-मानुस कैसे रखता ?"

रोते बच्चों को चुप करके, एक को गोद में बिठा कर दूध पिलाती, एक भारी-भरकम देह वाली सुहागिन बोली—"सुनो—मैं न तो पढ़ी-लिखी हूँ, और न गुलाब की कली ही हूँ; फिर भी इन 'लालों' की बदौलत रानी से भी बढ़कर रहती हूँ !"...

बच्चों को चूमकर उसने गर्वातिरेक से कहा—"मेरे लाल !—नहीं तो मुझे कौन पूछता ?...निर्गन्ध फूल और नट्टा (नष्टा) गाय की तरह, लक्ष्मी भी स्वामी की नजरों में न जँची ! और, फैशन की उस पुतली के बाल-बच्चे हों भी तो कैसे—वह कभी पति को अपने पास फटकने भी देती होगी ?—अरे, ऐसा अनमेल ब्याह किसी ने कभी देखा था !"

एक बूढ़ी अपने सफेद केशों में उँगली डालती कहने लगी : "अरी, काशी-प्रयाग के लोग तो इस तरह के विवाह की बात सुनते ही कानों में उँगली डाल लेते हैं—उनकी दृष्टि में मामा-भानजी तो भाई-बहन हैं—उनमें कहीं ब्याह हुआ है ? उसे तो वे 'अधर्म' ही नहीं—महापाप भी मानते हैं ! इधर भी जहाँ ऐसा सम्बन्ध होता है, अकसर लोग पछताते ही पाए जाते हैं। लक्ष्मी का बाप तो चाहता नहीं था, परन्तु सुभामा के एक ही बेटी, और उधर एक ही भाई—वर को घर में ही रख लेने के लोभ से उन्होंने ऐसी आफत उस पर ढाह दी। और, पीछे चल-कर जब उनकी गोद भरने लगी, तब पछताइ। यह सब उसी का

फल था—सुब्रह्मण्यम ने देखा, कि न धन मिला; और, न संतति हुई; तो फिर लक्ष्मी को लेकर वह क्या करता ?···दूसरा विवाह कर लिया।···लक्ष्मी तो उस विवाह के लिए राजी ही नहीं थी—माँ-बाप ने गले पड़ कर उसे व्याह दिया।"

नवेली ने प्रगल्भा को कनखियों से देखा; और, दबी जबान से पूछा—"दादी,—और दादा ने दूसरा व्याह क्यों कर लिया था?"

बूढ़ी गुस्से से लाल हो गई; और, हाथ चमका कर, नाक सिकोड़ कर कहने लगी—"मर कल-मुँही! मर्द शक्की होते ही हैं। अपने तो दिन-दहाड़े ढकरते चलते हैं; और, घर में उनकी निगाह फिरी रहती है! हरदम नाव पर धूल उड़ाते रहते है।···सुन ले: एक दिन एक साधु बाबा से मैं तीर्थ की कथा सुन रही थी; उन्होंने देख लिया; और, बेरहमी से मार-मार कर मेरी सब हालत कर दी! उतना ही नहीं—'भ्रष्टा', 'कुलटा', 'कलंकिनी'—कहकर···और झोंटा पकड़ कर घर से मुझे निकाल दिया!··· यही नहीं—अकड़ कर दूसरा व्याह भी कर लिया!···लेकिन, अधर्म कभी फलता है, बेटी? दो साल भी नहीं गुजरे, कि—उनकी चहेती स्वर्ग सिधार गई! तब आए फिर मेरे पास नाक रगड़ने!—वह मेरा पुण्य-प्रताप था, बेटी!···पर आज-कल की लड़कियाँ तो बहकी होती हैं, इसी से उनका पाप उन्हें काट खाता है!···लक्ष्मी भी अपने पापों का फल पा रही है—उसने उस भले-भोले आदमी को क्या कम सताया था?"

नवेली—"दादी, लक्ष्मी आंजनेय को चाहती है। वह शोहदा अब भी उसका साथ नहीं छोड़ता है। पति ने छोड़ दिया है, किन्तु छबीली को इसका कोई दुःख नहीं है। वह खूब खुश है; और, खुले आम सैर-सपाटा करती और, बेहया बनी, आंजनेय के साथ हँसती-खेलती रहती है! मैं तो देख-देख कर दंग रह जाती हूँ। सोचती हूँ, कैसा अनोखा युग आ गया है!"

प्रौढ़ा मंद-मंद मुसकुराती बोली—"चिड़िया पिंजड़े से उड़ आई है!"

सयानी ने सिर टेढ़ा किया; और, फिर गूढ़ दृष्टि से देखकर कहा—"बहेलिया फंदा लिए पीछे-पीछे फिर रहा है! पिंजड़े की चिड़िया और जाएगी कहाँ? देख लेना,—आंजनेय उसे फँसाकर ही दम लेगा।"

कुल-ललनाओं की इन अमल आलोचनाओ से आकुल होकर नभचर-गण अपने-अपने नीड़ो में जा छिपे। पापी प्रपंच से अपने पवित्र प्रभा-पुंज को समेट कर, लाल ऑखों से देखता, सूर्य भी शोक-सागर में समा गया। मोह-मित्र धुँधली अँधियारी असंख्य नयनों से झिलमिलाती, इन कुल-कामिनियों के ऊपर वरद-हस्त फैलाती, सारे संसार को अपने फौलादी पंजों मे जकड़ने आ गई। घर-घर से सघन होकर धूम-धारा ज्योति-जगत् की ओर उठी, लेकिन थकी-सी, अधर में ही मँडराती रह गई।

लक्ष्मी सुन्दरी, सुसंस्कृत और सुशिक्षिता थी। उसकी सुसाइटी ही दूसरी थी। अड़ोसिन-पड़ोसिन, नाते-रिश्ते, बन्धु-बान्धवों के घर की नई-नवेलियों से उसका सम्बन्ध नहीं के बराबर था। पड़ोसियों के यहाँ तो शायद ही वह कभी आती-जाती हो! इसलिए उन घरो की औरतें उससे बेहद चिढ़ी रहती थीं। और जब से उसका विवाह हुआ, उसने कहीं जाने-आने नाम न लिया! लाचारी से किसी के घर कभी गई भी, तो दो-चार खरी-खोटी ही सुन आई।

इसी से वह उत्सवादि में भी कहीं नहीं जाती थी। सखियाँ इसे लक्ष्मी की शान समझतीं, और मौके-बेमौके उसकी मखौल उड़ातीं। अब—जब, वह परित्यक्ता हो गई है, किसी की छाया भी नहीं पढ़ने देती है अपने ऊपर; क्योंकि अब औरतें उसके यहाँ अधिक आने-जाने लगी है!

कुशल-समाचार पूछने सज-धजकर सुन्दरियाँ आती हैं,—और, मचलती-मुसकुराती चली जाती हैं। बनी-ठनी वयस्काएँ आ बैठती हैं; और, बात-चीत करती-करती, गहरी सहानुभूति से साँस लेकर कह उठती हैं—"रूप-गुण से ही क्या होता है; भाग्य चाहिए, भोग चाहिए!" कोई-कोई चपला तो खोजकर लक्ष्मी के पीछे पड़ जाती है—"शोक न करो, बहन! मर्द तो मूर्ख और शक्की होता ही है। वह गँवार तुम्हारी कद्र न कर सका! ठीक ही तो लोग कहते है—'बन्दर जाने अदरख का स्वाद!'—मणि को फेंककर मिट्टी की मूरत ले आया! उस घर में तुम्हारी वही

हालत थी, जैसे—'भैंस के आगे बीन बजाओ, वह बैठे पगुराई !'…"

कोई-कोई रिश्ते की बुढ़िया झूलती आती; और, हाथ चमका-कर, कह जाती—"लोग कालिदास की कथा कहते-सुनते हैं : मैं तो अपने सामने वह तमाशा देखती हूँ !—मेरी बेटी का मन भला इस भैंसे के साथ कैसे लगता ? और, गोद में एक खिलौना भी तो नहीं ! जाने दैव ने इसके भाग्य में क्या लिख दिया है ? ओह, कैसी अभागिनी हुई यह ! अरे,—बेटी का मुँह कैसा सूख गया है !…"

लक्ष्मी को इन सुचिक्कन समवेदनाओं में साँप के छिपे दाँत दीखते। वह सरोष उठ जाती उनके सामने से—"छोड़ दो मुझे अपने दुर्भाग्य के साथ !"

इसपर सीढ़ियों के पद-चाप में व्यंग्य बिखर पड़ता था—'रस्सी जल गई, पर ऐंठन न गई !'

लक्ष्मी के कानों में वे अटपटी वाणियाँ पड़तीं; और, वह, लाठी खाए साँप की तरह, ऐंठकर रह जाती !

शैलजा स्वभाव से ही तेज मिजाज की थी। और, जब से उसने बहन के जीवन का यह दुःखान्त नाटक देखा, आकुलता से, उसकी वेदना को अपना लिया। उसका पति कोई डिग्री लाने विदेश चला गया था। इसी से वह अभी अपनी बहन के साथ ही रहती थी। सखी-सहेलियों के घर भी वही जाती-आती थी। और जब-जब वे चंचलाएँ लक्ष्मी की चुटकी लेतीं, तब उसका जवाब वह चपत से देती थी !

इस मामले में वह अपने पूज्य माँ-बाप से भी भिड़ जाती थी।

और, उन अपराधी बुजुर्गों की ऊँची गरदनें जो झुकीं; तो झुकती ही चली गईं। फिर कभी सिर उठाकर चलने की सुविधा वे नहीं पा सके। सुभामा ने तो घर से बाहर निकलना ही छोड़ दिया—रात-दिन मुँह छिपाए रसोई-पानी में लगी रहती।

लक्ष्मी इन जरा-जर्जर प्राणियों को देखती; और, उनके दर्द को तौलती, तो और भी चिन्ताग्रस्त हो जाती थी। जिनके लिए उसने यह त्याग किया, अपने जीवन को दम-घोंट अन्धकार में डाल दिया—उन्हें भी तो वह सुखी नहीं बना सकी। उल्टे उनका दुःख सौ-गुना बढ़ गया!...

पिता देश-प्रेमी थे, परोपकारी थे, विद्या-व्यसनी थे, धर्म-भीरु थे; और, लोक-हित के कामों में रात-दिन रत रहते थे! वह चाहते थे, कि लक्ष्मी किसी ऐसे ही काम में अपने को लगा दे, जिससे उसका जीवन सार्थक हो सके। उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि नगर-नारी-मण्डल का भार वह अपने-ऊपर उठा ले। लेकिन लक्ष्मी अभी तक पूरी तरह सम्हल न सकी थी—उसका घाव अभी हरा था! उसके सूखने में कुछ दिन और लगेंगे—सोचकर बाप ने भी विशेष आग्रह नहीं किया; पर, साधन जुटाने में वह सतर्क रहा। रोज कोई-न-कोई कार्य-कर्त्ता आता; और, लक्ष्मी से आग्रह-पूर्वक, समाज-सेवा पर चर्चा कर जाता था। कई देशी-विदेशी नई पत्रिकाएँ

भी उसके हाथ में पड़ने लग गईं। सुधारवादी कई नाटक लिखे और खेले भी गए बूढ़े बाप की प्रेरणा से; क्योंकि जवानी में वह खुद एक सफल अभिनेता रह चुके थे।

यों प्रेरक वातावरण लक्ष्मी को कुछ करने को उकसाने और उत्साहित करने लग गया।

पहाड़ से टकराता पागल प्रवाह

सावन का सुहावना महीना था। सोम-व्रत-धारिणी शैलजा फूलों से डाली भर लाई; परन्तु, लक्ष्मी के मुख को देखकर, वह सहसा द्रवित हो उठी—"यह बेचारी किसकी आराधना करेगी आज ? कौन है इसका सुहाग-देवता ?"

चिन्ता करती हुई शैलजा सखियों को बुलावा देने चली गई। घर में अकेली लक्ष्मी का मन न लगा। अनमनी-सी वह बाग में टहलने चली आई। टहलते-टहलते वह उत्फुल्ल मंदार के पास आकर खड़ी हो गई। लाल-लाल फूलों पर काले-काले भौंरे भन-भन कर रहे थे। वे एक फूल पर थोड़ी देर बैठते, फिर वहाँ से उड़ जाते थे। मानो उस स्वल्प रस-लाभ से ही उनकी परितृप्ति हो जाती थी, या शायद स्पर्श-सुख से ही पुलकित होकर वे उड़ जाते थे !

लक्ष्मी के मुँह से अनचाहे निकल गया—"पुरुषों की भी यही प्रकृति होती है—एक को छोड़ा, दूसरी से लग गए !"

"यह तुम्हारी भूल है !" मन्दार की आड़ से कोई चौंकाने वाली आवाज आई। तुरत एक गहरा लाल फूल हाथ में लिए, मस्ती से उसे हिलाते हुए, आंजनेय लक्ष्मी के पास आकर गम्भीर भाव से खड़ा हो गया।

लक्ष्मी अचानक अप्रतिभ हो उठी; और, अनिच्छा से बोली—

"कब आना हुआ ? पिता का श्राद्ध अच्छी तरह सम्पन्न हुआ न ?"

आंजनेय—"इन बातों को अभी छोड़ो ?—सुनो, आज मैं एक भारी साहस करके आया हूँ। अभय दो—नाराज न होगी !"

लक्ष्मी—"भूमिका की क्या जरूरत ? कह डालो न, जो कहना हो।"

स्वप्निल मुद्रा से आंजनेय बोला—"तुम मेरी सुधि न लोगी ?"

लक्ष्मी—"क्या कह रहे हो ? साफ-साफ कहो—पहेली मत बुझाओ मुझे !" कहती-कहती वह कुछ शंकित होने लगी।

आंजनेय—अच्छा, तो सुनो—कान खोलकर सुनो। जाने कब से मैं एक भयंकर तूफान अपने हृदय में रोके आ रहा हूँ। लेकिन अब यह हृदय फट जाना चाहता है !···सब कुछ जानकर भी तुम मेरी यह दुर्गति क्यों करवा रही हो ?"

लक्ष्मी की शंका क्षोभ में बदल चली—"पागलों की तरह क्या अनाप-शनाप बके जा रहे हो ?—दुर्गति···मैं तुम्हारी दुर्गति क्यों करवाने लगी ?"

आंजनेय जरा भी विचलित नहीं हुआ और स्थिर-दृष्टि से देखते कहने लगा—"न मैं पागल हूँ; और, न अनाप-शनाप ही बक रहा हूँ।···सत्य—एकदम नग्न सत्य—कहने आया हूँ। सुनो, लेकिन पहले से ही कहे देता हूँ—नाराज न होना, घृणा से मुँह न फेर लेना; और, न अभिशाप देकर मुझे भस्म ही कर

देना।...मैं प्रेम में पागल हो रहा हूँ—जानती हो ?"

लक्ष्मी क्षोभ को दबाकर बोली—"बहुत दिनों से जानती हूँ। यह कोई नई बात तो है नहीं। इसी से तो कहती हूँ—विवाह कर लो।"

आंजनेय—"किससे ?"—उसके स्वर में कातरता उमड़ उठी।

लक्ष्मी—"तुम्हारे लिए तो कितनी ही अंगनाएँ, अंचल पसारे, प्रतीक्षा कर रही होंगी।"—कहकर सरलता की मूर्ति, कुछ अनमनी-सी, उन डहडहे फूलों को देखने लग गई।

हठात् आंजनेय ने अपने दोनो काँपते हाथ उसके कंधों पर रख दिए; और, फिर वह दृढ़ता से बोला—"तो तैयार हो जाओ, प्रिये !"

लक्ष्मी पर जैसे बिना बादल की बिजली गिरी। क्रोध से काँपती शेरनी की तरह उछलकर, वह दूर खड़ी हो गई; और, आँखें तरेर कर्कश स्वर में बोली—"तुम्हारी यह शरारत ?"

हक्का-बक्का-सा होकर आंजनेय बोला—"शरारत ?"

लक्ष्मी—"हाँ,मेरे साथ यह हैवानी हरकत ?"

आंजनेय—"इसमें हर्ज ही क्या है, लक्ष्मी ?"

"हर्ज ??"—लक्ष्मी सर्पिणी-सी फुफकार उठी।..."क्या कहा—हर्ज ?"

आंजनेय निधड़क कह उठा—"अपनी चिर-प्रेमिका के साथ मेरी यह हरकत 'शरारत' नहीं हो सकती। तुम यों आँखें क्यों

दिखाती हो, प्रेयसी ?"

लक्ष्मी कुछ सहमती हुई बोली—"मैं तुम्हारी 'प्रेमिका' हूँ—'प्रेयसी' हूँ ?"

आंजनेय—"तो क्या इसके लिए मुझे शपथ खानी होगी ?—तो फिर पूछ लो इस सर्व-व्यापी सूर्य से, इस दिगन्त-विस्तृत नभोमण्डल से, सबके प्राण इस प्रवहमान पवन से, इस पृथ्वी से, इस बाग से, मेरे इस हृदय से, मेरे प्राणों से—अधिक क्या, तुम अपने हृदय से ही क्यों न पूछ देखो, मेरे स्वप्नों की स्वामिनी !... सब यही कहेंगे—सब मेरी बातों का ही समर्थन करेंगे। जानकार जगत् भी तुमसे यही कहेगा।—लक्ष्मी, तुम इस तरह बिगड़ती क्यों हो ? जरा यह रंग-मंचीय पोशाक उतार कर तो देखो—तुम किसकी हो ?"

लक्ष्मी क्रोध को पीती हुई बोली—"आंजनेय, तुम भावुकता में मत भूलो; आँखें खोलकर देखो—मैं किसकी हूँ ?"

आंजनेय ने लक्ष्मी की आँखों में आँख गड़ा कर देखा; और, अपनी छाती पर उँगली रख कर, बोला—"मेरी—और किसकी ?"

लक्ष्मी दूध की तरह उबल-उफन कर गरज उठी—"होश दुरुस्त करो, आंजनेय !—देखो, मैं भारतीय नारी हूँ; और, मेरा ब्याह ढोल बजा कर हो गया है—बहुत दिन पहले मैं दूसरे की हो गई।—क्या पर-पत्नी से तुम्हें ऐसा बर्ताव करना चाहिए ?—दुनिया तुम्हें क्या कहेगी ?"

उन्मत्त की तरह उचककर आंजनेय ने कहा—"होश में ही हूँ। यह तुम्हारी नाटकीय पोशाक है। इसे उतार कर फेंक दो, लक्ष्मी। उस अभिनय के बहुत पहले ही तुम मेरी हो चुकी थीं,—जब हम मैट्रिक में ही पढ़ते थे!—याद करो अपनी वह प्रेम-प्रतिज्ञा, याद करो अपने वे प्रेम-प्रसंग, याद करो—वे दिन और वे रातें; जब हमारा सारा समय अपने भावी जीवन की कल्पना करते मर्म-मधुर बातें कहने-सुनने में ही कट जाया करता था। याद करो—'टेम्पेस्ट' का वह अभिनय, जिसमें तुमने 'मिरांडा' का पार्ट लिया था, और मैंने 'फर्निंड' का।—उस समय क्या हमारा आत्म-मिलन न हो गया था?—उस समय क्या हमने अपने को पवित्र प्रेम-पाश में न बाँध लिया था?—उस समय क्या तुम इसी तरह आँखें लाल किया करती थीं?···"

कुछ नम्र पड़ते और माथा खुजलाते वह बोला—"अपने-पराए सभी जान गए थे, कि तुम मेरी हो।···हम दोनों बचपन से ही एक थे, एक होकर रहना चाहते थे; और,—ईश्वर की इच्छा है, कि आगे भी हम एक होकर रहें।···देखती नहीं, यह कैसा पट-परिवर्तन हो रहा है!—और, देखो—यह देखो—तुम्हारे ये सजल नेत्र ही तुमसे क्या कह रहे हैं?"

भाव-विह्वल होता वह कहने लगा—"ओह, तुम इस तरह आत्म-वंचना मत करो, हृदयेश्वरी—अपने को यों धोखा मत दो।···आओ···"

सहसा आगे बढ़कर उसने लक्ष्मी का हाथ पकड़ लिया है—

"भूल जाओ इस विच्छिन्न वर्तमान को, भूल जाओ इस अन्ध जगत् को, भूल जाओ इस नकली वेश को ! लक्ष्मी—मेरी प्राणोपमा लक्ष्मी ! याद रखो—याद रखो सिर्फ उस स्वर्ण युग को—सिर्फ उस आनन्दमय अतीत को, जिस समय हम प्रेम की स्वच्छन्द मन्दाकिनी में मग्न-मन कलित किलोलें किया करते थे !..."

लक्ष्मी ने सहसा एक जोर का झटका देकर अपना हाथ छुड़ा लिया; परन्तु आंजनेय पूर्ववत् अपना हाथ बढ़ाए रह गया; और, आँखें मूँदे ही बोला :

"चलो, चलो— हम फिर उसी तरह का उज्ज्वल जीवन बिताएँ। भागो, भागो—किसी अपरिचित आह्लादमय प्रदेश में जा बसें; जहाँ हम पर कोई उँगली न उठा सके; जहाँ हमारे पवित्र प्राण-प्रवाह में कोई पाप-पंक न उछाल सके; जहाँ न वर्तमान की वेदना हो, और न भविष्य की भीति; जहाँ सिर्फ अतीत के आनन्द की अद्भुत आभा में हम चिर-मिलन, चिर-संयोग, और चिर-विलास के सुधा-सागर में अपनी नेह-नौकाएँ डाल दें !.."

आकाश की ओर उँगली उठाकर उस स्वप्निल स्नेही ने कहना शुरू किया; और, मंत्र-मुग्ध लक्ष्मी, मृगी-सी मूढ़ बनी, ठगी-लुटी-सी उसका वह प्रलाप सुनती रही—"लक्ष्मी, प्रेम-पारावार में, पल्लव पर पौढ़ा हुआ परमात्मा भी परमानन्द को प्रवाहित करता रहता है। प्रेम का प्रवाह इतना प्रचंड होता है, कि कोई पर्वत-पति भी पल भर नहीं ठहर सकता ! फिर तुम इन

सिकता-कणों की—बालू के इन खिसकते बाँधों की—क्या चिन्ता करती हो···'कौन कहता है—तुम 'पर-स्त्री' हो ? यह स्वप्नावस्था का प्रलाप है ! उठ आओ चेतना के सुखद प्रभात में ! भगा दो भावना के इन भूतों को !···फाड़ डालो मिथ्या के इस अवांछनीय आवरण को। देख लो अपना असली रूप—लक्ष्मी, तुम दूसरी नहीं, मेरी वही पुरातन प्रेमिका हो, और बचपन से मेरी साथिनी रहती आई हो !···यह क्रूर जगत् तुम्हें जबर्दस्ती खींच ले गया था उस गहन घोरारण्य में—जहाँ खूँखार प्राणी तुम पर प्राणांतक पंजा मार रहे थे—अपने तीक्ष्ण दंत-प्रहार से तुम्हारे कोमल कलेजे को उधेड़-चिथेड़ रहे थे !"—सहसा सुख की साँस लेकर वह भावना-विलासी मचलने लग गया—"मेरे भाग्य से बचकर तुम लौट आई हो मेरे पास;—आओ, अब मैं तुम्हें सदा के लिए अपने हृदयान्तराल में छिपा लूँ···"

दोनों हाथ फैलाए, आंजनेय, पागल की भाँति, लक्ष्मी की ओर बढ़ने लगा। उसकी आँखें आधी मुँदी और आधी खुली हुई थीं।···

लक्ष्मी ने उस पागल का जब वह भयानक भावावेश देखा, तो वह कुछ हतबुद्धि रह गई। पहली प्रतिक्रिया तो उसकी हुई दौड़कर सरोवर में कूद पड़ने की। लेकिन, दूसरे ही क्षण वह प्रचंड रोषानल से भभक उठी; और, दो कदम पीछे हटकर, हिमाचल-सा स्थिर होकर—प्रतीक्षा करने लगी उसके आघात-की !

मोहान्ध आंजनेय, मस्ती से, उसके पास पहुँचता गया;

और, सतर्क और सुदृढ़ संकल्प वाली लक्ष्मी का शरीर तेजी से तनता गया—उसके सुकुमार अंगों की नसें क्रमशः कठोर पड़ती गईं। तरुणी के तन-मन की सारी ताकत सिमटकर उसके मसृण हाथों में आ गई; और, कुछ झुकी-सी, भीम वेग से वह आगे बढ़ी; और, असीम साहस से दाँत पीस कर एक जोर का धक्का दिया उसकी सुपुष्ट छाती में !!···

अनपेक्षित आए हुए इस प्रचंड आघात को अलाड़िया आंजनेय सह न सका; और, चक्कर खाकर धड़ाम से पीठ के बल गिर पड़ा ! अभी वह सम्हल भी नहीं पाया था, कि पास पहुँचकर, उस क्षुब्ध एवं बौखलाई नारी ने, उसकी कनपट्टी में कसकर दो चंड चाँटे जड़ दिए; और, फिर कुलिश-कठोर होकर वह गरज पड़ी—"रैस्कल !!"

मदोन्मत्त आंजनेय का वह नशा, चाँटा पड़ते ही, काफ़ूर हो गया ! आँखें खोलकर उसने देखा—लक्ष्मी हाथ में चप्पल उठाए, आग्नेय नेत्रों से देखती, सिर पर खड़ी थी। उसके अधर काँप रहे थे। घृणा-भरे स्वर में, दाँत पीसकर, विकृत वदन से उसने कहा—"लफंगा कहीं का !!"

आंजनेय क्रिकेट का मँजा खिलाड़ी था—झट धूल झाड़कर उठ खड़ा हुआ। लक्ष्मी की वह भीषण मूर्ति गौर से देखी—और बच्चू की सारी हेकड़ी हिरन हो गई; और, उसकी आँखें लक्ष्मी के चरण पलोटने लग गईं !!

लक्ष्मी ने ललकार कर कहा—"तुमने क्या समझ लिया था

मुझे—रे नादान ? बचपन का साथी जानकर मैं तुम्हें स्नेह से देखती आई थी, सौजन्य के नाते कुछ आजादी भी देती रही, उचित आदर भी करती आई—और उस सबका तुमने ऐसा बदला चुकाया—यों अनुचित लाभ उठाया ?···खबरदार ! अगर एक कदम भी आगे बढ़ाया, तो देख लो—इसी से पूजा कर दूँगी !!···"

सिर झुकाए आंजनेय अपने बल-विवेक को तौलता गुनता-धुनता रहा।

कुछ क्षण स्थिर होकर लक्ष्मी फिर कर्कश पड़ गई :

"क्या समझ लिया था मुझे ओ नश्तर-मार जानवर ? मैं मुर्दा नहीं, भारत की सिंह-वाहिनी नारी हूँ ! फिर मेरा ऐसा अपमान करने का साहस कैसे हुआ, ऐ दिवान्ध ? लुच्चे ! ये लोल आँखें निकाल लूँगी; और, ठोकरें मारकर उड़ा दूँगी अनन्त आकाश मे !!"

फणिनी-सी फुफकारती वह कशाघात करती गई :

"यही है तुम्हारा वह प्रथित पौरुष—ओ प्रलापी ? निर्जनता में एक अबला को पाया—और, लगे उसपर अपना पराक्रम दिखाने ! धन्य तू···और धन्य तेरी यौवनाभिमानी लिप्सा-लोल जाति,···और, धन्य तेरे जैसा उसका धीर-वीर प्रतिनिधि !—निर्लज्ज !! यही है तुम्हारा वह अति उदार दिव्य प्रेम ?—लोलुप, लालची, लोफर !···प्रेम का गौरव-गीत गाते थकता न था !—यही है तुम्हारे राम का वह आदर्श-प्रेम ?···मालूम होता है—तूने ही

मेरा घर बिगाड़ा है !—आस्तीन का साँप !···नमकहराम कुत्ते !!—जिस पत्ते पर खाया, उसी में छेद किया !—सच बोल —गोपाल के काम में तेरा हाथ था, या नहीं ?" कहते-कहते उसकी आँखों से अंगारे उड़ने लगे ।

गम्भीर चिन्ता, व्यथा और दर्द से नतमस्तक होकर आंजनेय ने कहा—"है, मेरा पूरा हाथ है उसमें ।—मुझे दण्ड दो, देवी ! मैंने घोर अपराध किया है । मेरे पाप की कोई सीमा नहीं है । मैं क्षमा नहीं चाहता; मुझे भारी-से-भारी सजा दो !—गोपाल को मैंने ही उभारा है, मैंने ही बिगाड़ा है, मैंने ही उसे प्रलोभन दिया है ! देवी, मैंने ही तुम्हारी वह बर्बादी कराई है !!"

कहकर आंजनेय अडिग खड़ा रहा ।

स्तम्भित-सी लक्ष्मी बोली—"क्यों तुमने यह सर्वनाश किया मेरा ?"

आंजनेय ने अत्यन्त अकुण्ठित स्वर में कहा—"तुम्हें प्राप्त करने को, देवी !"

लक्ष्मी ने सिर पीट कर उफनते आवेग से कहा—"ओफ दुष्ट !···तुम ऐसे वंचक बन गए !···" फिर गहरी आह लेकर वह बोली—"आह, मैं तुम्हें क्या समझती थी···कितना विश्वास करती थी !···और तुम ऐसे धूर्त···ऐसे गुण्डे···ऐसे आवारा-गर्द निकले ! नराधम ! दूर हट जा सामने से···नहीं तो···"—

घृणा, आवेग और आक्रोश के मिश्रित भावों से उसका चेहरा बिलकुल विकृत बन गया ।

'अश्रु-विगलित आंजनेय सिर झुकाए खड़ा था उसके सामने और सुस्थिर स्वर से कह रहा था—"लगाओ चप्पल मेरे इस पापी मस्तक पर! और, तबतक लगाती जाओ, देवी, जब तक वह टूट कर चिन्दी-चिन्दी न हो जाए!!" आंजनेय कहते-कहते निस्संकोच उसके पगतल में बैठ गया—"इस पापी सिर की यही सजा उचित है—कल्पना और कौशल का, कामना और वासना का, स्वप्न और साध का अभिमानी आगार यही तो है, मान-मर्दिनी!···जरा भी हाथ ढीला न करो, दुरति-हारिणी दुर्गे!"

शिथिल पड़ते रोष से लक्ष्मी बोली—"दुरात्मा!—क्या तुमने भी मुझे अपनी शकुन्तला समझ लिया था?·· नराधम! डूब मर चुल्लू-भर पानी में!—वासना का गुलाम! प्रेम का नाम लेने आया था···नरक का कीड़ा! अपने को मनुष्य कहते लज्जा नहीं आती है तुझे! बचपन से साथ रहा, खाया-खेला, पढ़ा-लिखा, घूमा-फिरा—और, मन में यह गूढ़ कपट पाले रहा!··· ओह—शैतान! कैसा कुचक्र रच दिया तुमने!···"

घृणा दिखाती-सी मुँह फेरकर फटकारती हुई कहने लगी—"दूर हो सामने से अभागा; अब कभी अपना काला मुँह मुझे नहीं दिखाना!" लक्ष्मी जोर लगाकर कह गई, मुँह फेर कर घूम भी गई, पर उसके स्वर में वह तेजी न रही; और, अपने हलके पन पर उसका आश्चर्य बढ़ता गया—क्या सचमुच वह कोई नाटक कर रही है!··

आकुल आंजनेय लक्ष्मी के चरण पकड़कर, गरम-गरम आँसू से उन्हें धोते, कहने लगा—"देवी, चाहे जो सजा दो, पर इन चरणों की छाया से तो मुझे दूर न करो! मैं कठोर-से-कठोर दण्ड भोग लूँगा, पर तुमसे दूर रहकर जी नहीं सकूँगा!..."

अनुताप-द्रवित आंजनेय के गरम-गरम आँसू, उसके संभृत शरीर की वह दयनीय दुर्बलता, कलेजे को काटने में कृपाण से भी तेज उसकी करुण कातरता एवं प्रचंड प्रेम-प्रसूत उसके महत् प्राणों का आवेग-आकुल वह अनुनय—सबने मिल कर लक्ष्मी के चंचरीक-चरणों को जैसे भारी-भरकम बेड़ियाँ पहना दीं! क्रोध तो उसका पहले ही काफूर हो चुका था, घृणा भी जाने कहाँ घूमने चली गई थी; तब भी पाँव छुड़ाने की न तो उसमें ताकत रह गई थी, और न वैसी कोई इच्छा ही लक्षित होती थी। फिर भी पाँव छुड़ाना जरूरी था—परिस्थिति इसके लिए उसे पुकार रही थी। अतः अर्ध-स्फुट स्वर में, कुछ आयास से, वह बोली—"नहीं, अब मैं ऐसे कपटी-कुटिल पर कभी विश्वास नहीं कर सकती!...मैंने तुमसे बहुत-कुछ आशा रखी थी—बहुत कुछ करना चाहा था साथ-साथ, पर तुमने तो मेरी पीठ में छुरी ही भोंक दी—बेईमान!..."

गर्व से उठता हुआ आंजनेय बोला—"नहीं, देवी!...आज तुमने मुझे नव-जीवन का सन्देश दिया है! एक नूतन ज्योति दिखाई है—भारतीय नारी की, उद्दीप्त आत्मा की!...लक्ष्मी!—महीयसी देवी, तुमने नारी-जाति को आत्म-सम्मान के आदर्श का

एक नूतन पथ दिखाया है। अगर नारियों में यह तेज, यह धैर्य, यह ज्ञान आ जाए—तो फिर उन्हें 'अबला' कहने का दुस्साहस कौन करेगा? अगर इस तरह शक्ति-संचय करना और यों भूकंप उठाना वे सीख जाएँ, तो उन पर लालची लोचन उठाने की हिम्मत कौन करेगा? लक्ष्मी—आज तुम सचमुच दुर्निवार दुर्गा बन गई! अति लांछित अंगरेजी शिक्षा की तुमने आज लाज रख ली! अंगरेज-महिलाओं के साथ, बगैर उनकी स्वीकृति के, क्या कोई ऐसी छेड़खानी कर सकता है? लोचन लड़ाने लुच्चे-लफंगे कभी उनके पास फटक सकते हैं? तुमने अंगरेजी स्कूलों के खेल-तमाशों को भी आज सार्थक कर दिया, देवि! यह फुर्ती, यह शक्ति और यह साहस! लक्ष्मी—मेरी अंधी भावुकता के गढ़ को ढहा देने वाली वीरांगना लक्ष्मी—मेरी अंधी आँखो को खोल देने वाली ज्योतिर्मयी लक्ष्मी! तुमने आज मुझे एक नई जिन्दगी दी है, एक नवीन दृष्टि दी है, एक अपूर्व दृश्य दिखाया है। नारी के दर्प और उसकी दमक से चतुर्दिक् एक तीव्र कौंध फैला दी है तुमने!···मैं इस सुदृढ़ आलोक-स्तम्भ को छोड़कर अब कहाँ भटकने जाऊँ? मेरे सारे कलुष तो तुमने एक ही फूँक में उड़ा दिए! अब तो मैं वह सोना हूँ, जिसके बारे में किसी कवि ने कितना ठीक कहा है:

"कनकौ बान चढे पुनि दाहे।
जिमि प्रीतम-पद प्रेम निवाहे॥"

कहकर आंजनेय की आँखें और उसका मुख-मण्डल यों

चमकने लगा, जैसे परनाले में गिरने के बाद कोई गंगा में गोता लगा आया हो !···

लक्ष्मी ने उसके शुचिता-स्नात उस शुभ्र मुखड़े को उड़ती नजर से देखा; और, अन्तर में सगबग करती अपनी उत्फुल्लता को बल-पूर्वक दबाती, स्वर में अनचाही रूक्षता भरती, अपनी कुछ क्षण पूर्व भागी हुई उपेक्षा को पुनः पुकारने लगी—"नहीं, अब मैं साँप को दूध पिला कर पालना नहीं चाहती। तुमने मेरी उदारता और स्नेह का बहुत नाजायज फायदा उठाया है। शैलजा मुझे बार-बार सावधान करती थी, पर मेरा विश्वासी हृदय कभी कोई शंका न कर सका !···और तुम ऐसे धोखेबाज निकले ! अब मैं तुम्हारी छाया से भी दूर रहूँगी। जाओ, तुम्हारे लिए अब इस घर का दरवाजा दृढ़ता से बन्द हो गया। खबरदार, अब कभी इधर पैर न बढ़ाना !"

आंजनेय ने दोनों हाथों से अपना सिर धुन लिया—"तब तो मैं नष्ट ही हो जाऊँगा !···सच कहता हूँ—तब मैं आत्म-हत्या कर लूँगा ! उदारता-पूर्वक एक मौका दो—जीवन की परीक्षा पास करने दो, दयामयी !"

लक्ष्मी अपने मन की खिसकती दृढ़ता को पुचकारती बोली—"नहीं, तुम अभी ही यहाँ से चल दो। यही मेरा फैसला है—यही तुम्हारी सजा है !" कहकर लक्ष्मी सचमुच कठोर पड़ गई।

आंजनेय लक्ष्मी की कठोरता को समझ कर स्तब्ध हो

गया—"अभी यह किसी प्रकार मृदुल नहीं हो सकती है।" सोचकर वह कुछ कहने ही जा रहा था, कि शैलजा डाक लिए वहाँ आ पहुँची। बस, उसकी जबान रुक गई।

लक्ष्मी गम्भीर भाव से डाक देखने लगी—और, आंजनेय मुँह लटकाए उठा; और, धीरे-धीरे खिसक गया।

शैलजा के नेत्र विस्मय से आंजनेय का पीछा कर रहे थे; और, जब वह गेट से बाहर हो गया, तब फिर लौट आए लक्ष्मी के पास। फिर धीमे से वह अपने-आप बोली—"क्या हुआ इन महाशय को? मुँह लटकाए जा रहे हैं!"

लक्ष्मी ने कोई जवाब न दिया—सुनकर भी अनसुनी कर गई! शैलजा फिर कुछ पूछने का साहस न कर सकी!

अन्धकार सघन हो आया था। तारे आँखें फाड़कर उस अँधेरे में कुछ ढूँढ़ते-से जान पड़ते थे। हवा किसी से कुछ काना-फूसी करने कहीं चली गई थी, या थक कर कहीं सो रही थी। सभीत-से खड़े पेड़ों के पत्तों पर शून्य लोक से टप-टप आँसू गिर रहे थे। सर्वत्र निस्तब्धता-ही-निस्तब्धता घूर रही थी। सिर्फ कभी-कभी उल्लू चीख देता था—किचबिच...किचबिच!!

ऐसे समय, वह देखो—अनुताप की आग में जलता कोई अभागा चला जा रहा है अनिश्चित दिशा की ओर!...चलते-चलते ठिठक जाता है, पीछे मुड़कर थोड़ी देर देख लेता है; और फिर अनिच्छा-पूर्वक पैर घसीटने लगता है! ऐसी निस्तब्ध निशा

में घर छोड़े कहाँ जा रहा है यह श्रान्त पथिक—इस निर्जन और बीहड़ पथ पर ?

कहीं से कोई जवाब न पाकर ध्वनि भी किसी कोने में सो रही। सिर्फ याम-परिचायक पक्षी ने अपनी अस्पष्ट भाषा में कुछ कहा—किचबिच···किचबिच !!

गाढ़ी नींद में सोए संसार के कान इसका कोई अर्थ न लगा सके !···

निर्वासित और सर्वहारा पथिक तब भी घिसट रहा था—जाने कहाँ जाने के उद्देश्य से ?···उसको आगे-पीछे, अगल-बगल, ऊँचा-नीचा सब एक ही से लग रहे थे—एकदम असूझ, एकदम अबूझ, और एकदम अजूझ। लेकिन भाग्य की गेंद में जब जोर की लात लग जाती है, तब वह रुक तो सकती नहीं; लुढ़कना ही पड़ता है उसे—चाहे पथ में खाई हो, या खन्दक ! और जब तक लात का जोर रहेगा, जब तक उसकी याद रहेगी—गेंद को लुढ़कना ही होगा इस धूल की धरती पर !!···

हाय रे स्वप्न-दर्शियो का दुर्भाग्य !!

कलरव

मनुष्य स्थूल और सूक्ष्म का गँठबन्धन है। उसका स्थूल उसके सूक्ष्म से सञ्चालित होता रहता है। स्थूल की शक्ति सीमित होती है, पर सूक्ष्म की शक्ति की कोई सीमा नहीं है। यह सूक्ष्म उसका 'अन्तर्मन' होता है। 'अन्तर्मन' अद्‌भुत शक्तिशाली होता है—अनन्त, अगाध और अव्याहत !

जब तक स्थूल जागता है, 'अन्तर्मन' प्रायः सोता है। स्थूल के सोते ही 'अन्तर्मन' की गाँठ खुल जाती है, और, स्वप्न के अद्‌भुत दृश्य उपस्थित होने लगते हैं। स्थूल जगत् में जो असम्भव थे, लेकिन मन जिनकी ओर बार-बार दौड़ता था, स्वप्नलोक में वे सहज-साध्य हो जाते हैं।

जाग्रत अवस्था में इंगलैण्ड जाना आसान नहीं, पर 'अन्तर्मन' में कोई बाधा सिर नहीं उठाती है। इच्छा हुई; और, क्षण में सात-समुन्दर पार कर इंगलैण्ड पहुँच गए। 'अन्तर्मन' की गति विद्युत् प्रकाश से भी तेज होती है। पल मारते ही वह त्रिलोक की परिक्रमा कर आता है ! प्रकृति की ये महाशक्तियाँ मनुष्य के 'अन्तर्मन' के सामने शिशु-समूह जान पड़ती है। स्थूल के सारे संयम, नियन्त्रण, रोक-थाम 'अन्तर्जगत्' में आकर सेमल के फूल की तरह फूट जाते हैं, और, रूई, के रेशे-से शून्य में उड़ने लग जाते हैं ! स्थूल-जगत् की सुप्त-वासना, सूक्ष्म-जगत् मे

आकर, नाना खेल करने लग जाती है। इसीलिए जीवन में स्वप्न का इतना सम्मान होता है।

जाड़े की ठण्ढी रात है! मुलायम 'रग' ओढ़े लक्ष्मी अपने कमरे में सोई है। नींद गहरी है। स्थूल लुप्त हो गया है, सूक्ष्म मनोरम दृश्य दिखा रहा है। बाहरी आँखें बन्द है, पर अन्तर्नयन खुले हुए हैं। लक्ष्मी जाने कहाँ-कहाँ से घूम-फिर कर और क्या-क्या देख-सुनकर आ गई है।

अभी-अभी वह अपनी काली कमली और उसके बछड़े को देखने गई थी। यह सुप्तवासना जाग्रत अवस्था में सिर नहीं उठाती थी, पर 'अन्तर्मन' की गाँठ खुलते ही वह उसे सुब्रह्मण्यम् के घर तक उड़ा ले गई। गाय और बछड़े का तन सूखकर काँटा हो गया था। लक्ष्मी को देखते ही उनके बन्धन खुल जाते हैं। वे दौड़कर लक्ष्मी के पास पहुँच जाते हैं, और 'बाँ-बाँ' करके रँभाने लग जाते है। लक्ष्मी उन मूक जीवों को प्यार करके तृप्त होती है। फिर दूसरे ही क्षण वह अपनी दयालु सास के पास पहुँच जाती है, और, गरम-गरम आँसू बहाकर, उनसे आशीर्वाद लेती है। नवेली सरस्वती उसी के कमरे में सोई है; लक्ष्मी उसकी एक झाँकी लिए बगैर, जाना नहीं चाहती है। किवाड़ जाने कौन खोल देता है; और, परिचित पलंग पर नजर फेंककर वह भाग खड़ी होती है। पलक मारते बाप के घर पहुँचती है; और, साश्चर्य देखती है—काली गाय और बछड़े उसके दरवाजे पर बँधे हैं,

और खूब मोटे हो गए हैं! वह वहाँ से उड़ती है; और, सीधे विजयनगर पहुँच जाती है। देखती है, एक फटेहाल संन्यासी उसपर तीखे व्यंग्य-बाण छोड़ रहा है—'आ गई 'धर्मात्मा' नारी!···तन किसी को, और मन किसी को! पातिव्रत्य का कैसा ज्वलन्त उदाहरण है!···और चाँटा चलाती हो···किस पर? जरा आईने में अपना मुँह तो देख लो, दुलारी—तुम्हारे गालों पर, उँगलियों के वे उभरे निशान, कहाँ से आए? चाँटा चला तो था मेरे गाल पर!'···फिर एक कुञ्ज से आती किसी पक्षी की सुरीली आवाज उसे सुनाई पड़ती है—'अपने प्रेमी पर कोई ऐसा चाँटा उठाता है, लक्ष्मी!···बेचारा न घर का रहा, न घाट का!'—यही भावार्थ उसका मन ग्रहण करता है।

देखते-देखते आंजनेय पक्षी का रूप धारण करता है; और, लक्ष्मी के सिर पर मँड़राता कहने लगता है—'अपने जीवन-संगी पर यह निष्ठुर आघात!'···

हठात् लक्ष्मी फूट-फूटकर रो पड़ती है; और, हिचकी ले-लेकर कहने लगती है—"चाँटा···मैंने तुम्हें चाँटा मारा?—नहीं-नहीं; वह चाँटा उलटकर मेरे ही मुँह पर पड़ा है। देखती हूँ, और विस्मित रह जाती हूँ!···आंजनेय, मुझे माफ न कर दोगे?"

आंजनेय मंदार का एक लाल फूल कहीं से ले आता है; और, गंभीर भाव से पास आकर, उसकी कवरी में गूँथ देता है। लक्ष्मी कृतार्थ-सी हो जाती है। पक्षी तुरत उड़ जाता है। लक्ष्मी भी कुछ दूर उड़ती है पक्षी के साथ, पर थक कर लौट आती है; और,

आँसू बहाने लगती है। उसका रोना सुनकर वृद्धा बाप वहाँ पहुँच जाता है; और, उसके चरण पकड़कर रोने लग जाता है— 'बेटी, क्यों तुमने उस समय मेरी बात मान ली? क्यों न मेरी जीभ बंद कर दी? क्यों न कठोर होकर कह दिया— नहीं, यह शादी नहीं हो सकती!···अरे, कैसा अंधा बन गया था मैं!'···निमिषान्तर में पर्दा उठा; और, सुभामा आ खड़ी हुई वहाँ—आँचल पसारे। उसके मुँह से कोई आवाज न निकली— केवल आँसू गिराती खड़ी रही!

फिर दृश्य बदला। लक्ष्मी बाग के ईर्द-गिर्द घूमने लगी। एक पेड़ तले, एक पागल बैठा हुआ, जोर-जोर से किसी को कोस रहा था—'मारो—और मारो! इस गाल में भी मारो!— और—वह चप्पल कहाँ है? चलाती क्यों नहीं···सिर झुकाए तो बैठा हूँ!'···

सहसा लक्ष्मी, उस पागल की बगल में जा बैठती है; और उसके गले में हाथ डालकर कहने लगती है—"अब तक मन का चोर नहीं भागा है, पागल? अरे, देखते नहीं; हमारे भाग्य का पासा तो कब न कब पलट गया! हम दोनों जीवन-सरिता की खरतर धारा मे बहकर, दो किनारों पर, आ लगे हैं—तुम उस पार, मैं इस पार!!···ओ नादान, प्रत्यंचा पर चढ़ा तीर, जब सनसनाता निकल जाता है, तब क्या वह पकड़ा जा सकता है? कोई जादूगर उछलकर उसे पकड़ भी ले; पर याद रखो— आर्य-अंगना के भाग्य का तीर, जब एक बार छूट जाता है, तब

उसे साक्षात् काल भी नहीं पकड़ सकता है !···"

उसकी आँखों में आँख डाल वह कहती है—"देखो, मैं दूसरे की हो गई हूँ। तुमने सामाजिक स्वीकृति लेकर, कल्याण-मंडप में मंत्र-पूत आसन पर बैठ कर, मंगल-गान-वाद्य के बीच मेरा हाथ तो नहीं पकड़ा, गले में मंगल-सूत्र तो नहीं बाँधा, सिर पर अक्षतो की अंजुलियाँ तो नही डालीं, गँठ-बंधन के साथ अग्नि-प्रदक्षिणा तो नहीं की, 'सप्तपदी' के हर एक चरण पर वेद-मंत्र तो नहीं पढ़े !···फिर किस बल पर तुम मुझे अपनाना चाहते हो ? ऐसी नादानी फिर कभी नहीं करना, नहीं तो आना-जाना भी बन्द हो जाएगा !···"

वह आंजनेय-पंछी एकाएक कहीं गायब हो गया। क्षणान्तर मे एक दूसरा डरावना दृश्य लक्ष्मी के सामने आ खड़ा हुआ। लाल साड़ी पहने, चोटी मे लाल-लाल फूल गूँथे, लाल नेत्रों से देखती, माँग में लाल रेखा वाली, सद्यः परिणीता, सरस्वती कहने लगी है—"रूप और विद्या का गर्व-भार ढोने वाली मूढ़ नारी—क्या स्वर्ग में भी तू मेरा हक छीनने जा रही है ?"—कहती वह पास पहुँच जाती है, और डपट देती है—"मिटा दे भाल की यह लाल विन्दी; और, तोड़ दे यह अनर्थकारी 'काला धागा—इस पर अब तेरा कोई अधिकार नहीं है—मेरा है ! वह पुरुष, जिसके नाम पर तूने यह धाँधली मचा रखी है, अब तेरा कोई नहीं रहा ! अगर तेरा साहस नहीं होता है, तो ला,—मै अपने हाथो तेरा यह धृष्ट श्रृंगार नष्ट कर दूँ !···"

सरस्वती हाथ बढ़ाए, बढ़ने लगती है लक्ष्मी की ओर—और सभीत लक्ष्मी पीछे हटती जाती है।···हठात् झपटकर सरस्वती उसका गला पकड़ लेती है; और, कुंकुम-बिंदी मिटाती, झटके के साथ मंगल-सूत्र भी तोड़ डालती है !···स्वप्न मिट जाता है !

हठात् लक्ष्मी, बिछौने पर छटपटाकर, चिल्ला उठी—"अम्मा ! ···ओ अम्मा !!"

माँ-बाप हड़बड़ाकर उठे; गिरते-पड़ते, दौड़े आए; और, व्याकुल होकर बोले—"क्या हुआ, बिटिया,—क्या कोई दुःस्वप्न देख रही थी ?"

लक्ष्मी, पलंग पर से उतर कर, माँ से लिपट गई—'अम्मा !'

आँसू का उष्ण निर्झर, एक-दूसरे को डुबा देना चाहता था; और, उधर अँधेरी रात अलग भाँय-भाँय कर रही थी !

ओलों की वर्षा

लक्ष्मी के रोकते रहने पर भी शैलजा ने उसकी चोटी में कुछ फूल गूँथ दिए, और, ललाट पर एक लाल बिन्दी लगा दी, जिसे देखकर वह खुद संकुचित हो उठी। वह बिन्दी उसकी ओर, जैसे लाल नेत्रों से घूर रही हो!

दोनों बहनें चुप थीं। लेकिन उनके रोम-रोम कह रहे थे—"सुहाग की यह कैसी विडंबना है!—'मान-न-मान, मैं तेरा मेहमान!' पुरुष ने तो वहाँ एक दूसरी नारी को घर में लाकर, अपनी दुनिया आबाद कर ली है; और, यह अभागिनी यहाँ क्या उसी के छाया-पट को छाती से लगाए जिन्दगी बिता देगी!···"

शैलजा को, पहले तो वह बिन्दी, बड़ी भली मालूम हुई थी—लक्ष्मी के मुख की शोभा उससे सहसा शतधा खिल उठी थी; पर उसकी सौत की बात याद आते ही, वह घोर घृणा से जल उठी, एक प्रबल प्रेरणा हुई, अंचल-छोर से वह उस बिन्दी को मिटा दे! उसके हाथ कुछ हिले-डुले भी·········

लक्ष्मी उसके भाव को ताड़ गई; और, अधरों पर उँगली रखकर बोली—"नहीं, उसे रहने दो।"

"गुलामी का घृणित चिह्न जो है यह!"

"नहीं, यह, उसके लिए, कल्याण-कामना की निशानी है!—

मैं उस कामना को क्यों छोड़ूँ ? हमारे कल्याणार्थियों ने, उसके साथ गँठ-बन्धन कराके, हमारा कल्याण ही तो चाहा था। भावना का वह प्रतीक मेरे भाल पर रहे। मैं उसकी भलाई ही चाहती रहूँगी !···दूसरी दृष्टि से देखो, तो यह एक साधारण अलंकरण-मात्र है।···फिर मै किसी दुर्भावना से अपना मुँह क्यों बिगाड़ लूँ ? सुरुचि और सुचारुता शिक्षा के वरदान हैं। मैं उनसे वंचित नहीं रहूँगी;—बिन्दी लगाना नहीं छोड़ूँगी।"

शैलजा—"लेकिन दुनिया तो इसे 'रूढ़ि की दासता' ही कहेगी ! क्या वह इतनी गहराई से सोचने जाएगी ?"

लक्ष्मी—"न सोचने दो। हम क्यों कल्याण-मार्ग में काँटा बोएँ ? पिताजी रोज, सन्ध्या-वन्दन के समय यह मन्त्र जपते हैं—'सर्वे भवन्तु सुखिनः !'—मैं उसे क्यों भूलूँ ?"

शैलजा—"कुछ सुनने के लोभ से ही मैं तुमसे बहस छेड़ देती हूँ। अन्यथा न समझना, बहन !"

लक्ष्मी—"अन्यथा समझने पर यों चपत लगा दूँगी !"—वह उसके मुलायम गाल को थपथपा देती है !

शैलजा हँसती हुई चली गई—उसके मन का सारा संचित संकोच, जाने कहाँ भाग गया !

आज श्रावणी पूर्णिमा का सुख-सुहाग वाला पावन-पर्व है। सखियाँ शैलजा को पकड़कर बुलावा देने ले गईं। घर में लक्ष्मी का मन न लगा। आलमारी से उसने 'सीता-नाटक' निकाला,

और बाग में जाकर पढ़ने लगी। डी० एल० राय की 'सीता' धूल-धूसरित राम को अपनी गोद में उठा लेती है; और, निस्संग मन से कहती है—'नाथ, यह हृदय बिछा देती हूँ—तुम इसपर से अपनी कीर्ति-पताका उड़ाते, अपना भुवन-विजयी रथ हाँक ले जाओ—चिन्ता न करो, कि मेरा हृदय कुचल जाएगा!'···

उसके आगे उससे पढ़ा नहीं गया। गीली आँखें पोंछती वह बाग में टहलने लगी। शिरीष की डाली पर, पीले रंग की एक छोटी चिड़िया, सुरीली आवाज में सीटी भर रही थी। पत्तों में फुदकती उस नन्हीं विहग-बाला का वह गान ऐसा मर्म-स्पर्शी था, कि लक्ष्मी तन्मय होकर सुनने लग गई।

हठात् एक बेडौल काला भौंरा उसके कान के पास आकर गुन-गुन करने लग गया। चौंककर लक्ष्मी ने गर्दन घुमाई, तो भौंरा उसकी वेणी के फूल पर जा बैठा। चिढ़कर लक्ष्मी ने फूल नोच डाले!···खीझकर उस काले ने, उसकी हथेली में, डंक मार दिया।···

बेचारी 'सी-सी' करती, हाथ मलती रह गई!

उसी समय बाहर से डाकिए ने पुकारा—"पोस्ट!"

जाने क्यों लक्ष्मी का कलेजा जोरों धड़क उठा! शैलजा के नाम एक लिफाफा था। मुहर देखकर उसने लिफाफा फाड़ डाला। चिट्ठी पढ़ते-पढ़ते, उसका मुख, एकाएक आरक्त हो उठा—"ऐसी नीचता!···ऐसा आरोप!!···"

गुस्से में उसने चिट्ठी को चिन्दी-चिन्दी करके फेंक दिया और, हुंकार कर उठी—"सामने होते तो मजा मालूम हो जाता !"

चिट्ठी के टुकड़े-टुकड़े हो गए थे। फिर भी जैसे वे टुकड़े मुँह बिचकाए रहस्य खोले दे रहे थे—'...उसकी लम्पटता मैंने अपनी आँखों देखी थी ! आंजनेय के साथ, उसका वह निर्लज्ज नाच देखकर भी, मैं चुप कैसे रह जाता ?...'

न चाहने पर भी, बार-बार रोकने पर भी, उसके मन में उस वाक्य की आवृत्ति होने लगी—"...उसकी लम्पटता मैंने अपनी आँखों देखी थी !..."

"लम्पटता !...लम्पटता !!...लम्पटता !!!"

जान पड़ता है, ध्वनिमयी दुनिया में, आज एक यही शब्द शेष रह गया है !...

"नादान, तुम मुझे लम्पट—असती—बताते हो ? लेकिन तुम 'सती-असती' का मर्म क्या समझने गए ? सच कहो, तुम मन से कभी मेरे स्वामी हुए भी थे ?...पिता-माता को खुश करने के ख्याल से मैं तुम्हारे घर चली गई थी—बस ! हुआ था कभी साहस तुम्हारा—मेरे इस शरीर को छूने का ? फिर तुम किस मुँह से मुझे 'असती' बताते हो ?...असती मैं तब होती, जब मन से कभी मैं तुम्हें वरण करती !—जिसकी छाया से भी मैं भागती फिरी थी—वह मूढ़ मेरे 'पति' होने का दम्भ करे,...हाय भाग्य की यह कैसी विडम्बना है !...और जो मेरे बालपन का साथी है, जो छाया की तरह मेरे साथ रहता आया है, जिसके

साथ मैंने पढ़ा-लिखा है, खाया-खेला है, और—जो सौ जान से मुझ पर न्योछावर है—क्या उसके साथ कभी थोड़ा हँस-बोल लेना, तुम्हारी दृष्टि में 'लम्पटता' हो गया ?···हाय !···याद रखो—माँ-बाप की मर्यादा कहीं मिट्टी में न मिल जाए, तुम्हारे समाज की कहीं नाक न कट जाए और तुम कहीं आत्म-ग्लानि से आत्म-घात न कर लो—इसी विचार से मैं तुम्हारे घर चली गई थी।···अच्छा किया तुमने—जो दूसरी शादी कर ली और मुझे कारावास से मुक्ति दे दी !···मेरे चाहने पर भी तो तुम मेरे निकट नहीं आ सकते थे—और न आए ही !···"

लज्जा की लाली उसके मुख पर फैल जाती है; और, अपने आप में डूब-सी जाती है; फिर सिर उठाकर कहने लगती है—"इस प्रकार यथार्थ ही 'असती' होने से मुझे बचा लिया है तुमने !···किन शब्दों में धन्यवाद दूँ तुम्हें, दयालु देवता ?···दुनिया जानती थी, कि मैं तुम्हारी 'पत्नी' बनकर तुम्हारे घर गई थी···!"

मन-ही-मन मुसकुराने लग जाती है—"पर, तुम तो जानते थे, कि तुम कितनी दूर-दूर रहते आए थे मुझसे ?···फिर 'असती' कहने का साहस कैसे हुआ तुम्हारा ?···पुरुष की यह आत्म-वंचना, उसकी वाणी का यह प्रलाप, और गँवारो का इतना मिथ्या गर्व !!·····"

गुस्से से ऐंठ जाती है; और, बड़बड़ाने लगती है—"दुष्ट ! तुमने सदा के लिए मेरे सुख-सुहाग का रास्ता रोक लिया है !···

अपने लिए एक नया शिकार खोज लिया; और, मेरी मिट्टी पलीद कर दी—मुझे कहीं सिर उठाने लायक भी नहीं रहने दिया—न धरती पर, न नरक में, न स्वर्ग में !! और, अब चले हो, पेड़ से गिरे हुए घायल पर मुँगड़ी मारने !"

मंगल-सूत्र को खोलकर गौर से देखती धीरे-धीरे बोल उठी : "किसान, जैसे अपने पशु को धर-पकड़ कर दाग देता है, तुमने भी एक चुटकी रंगीन अक्षत से मुझे दाग कर जन्म भर के वास्ते दासत्व का यह पट्टा मेरे गले में बाँध दिया !···ओह ! आंजनेय और शैलजा का कहना कितना ठीक है ! मैं तर्क करके उनका मुँह बन्द कर देती हूँ। लेकिन···लेकिन, अब मैं यह असंगल-सूत्र गले में नहीं रख सकूँगी।···प्यार—माँ-बाप का प्यार—कितना अन्धा, कितना अनर्थकारी, और कितना पीड़क होता है !···कहाँ गया 'कल्याण-कामना' वाला मेरा वह मिथ्या गर्व !"

दोनों हाथों से काले धागे को तोड़ना चाहती है, पर वह टूटता नहीं; तब वह गहरे सोच में पड़ जाती है :

"क्यों फजूल कोस रही हूँ दुनिया को ?···कहाँ चला गया था मेरा साहस, मेरा विवेक और मेरी धर्म-प्राणता ?··· मुझे समय की जरा भी सूझ होती, तो बड़ी विनय-शीलता से कह देती—'विवाह मेरी आत्मा का प्रश्न है। जीवन मुझे बिताना होगा उसके साथ। आप लोग यह आग्रह छोड़ दें। मैं उसके साथ शादी नहीं कर सकती !'···तो क्या माँ-बाप जबर्दस्ती मुझे

उस गड्ढे में ढकेल देते ?···सच, यह सब मेरी क्रूर कायरता का परिणाम है।···अगर मैं उस समय इनकार कर देती, तो, कुछ देर के लिए उन्हें कष्ट होता ! अन्त में सिर धुन कर वे शान्त हो जाते; और, किसी को ये दिन तो देखने न पड़ते।···"

दूसरे दिन; उसी बाग में बैठी, दोनों बहनें बातें कर रही हैं :

शैलजा—"इतनी उद्विग्न क्यों हो जाती हो, बहन ? उल्लू तो प्रकाश के साथ झगड़ता ही आया है,—सूरज को भला बुरा कहता ही रहता है। इससे क्या प्रकाश घबरा जाता है? वह तो उसकी अन्ध-गुहा में भी घुस कर उसकी आँखों में चौंध पैदा कर आता है ! जो सूरज पर थूकता है, वह गन्दगी उसी के मुँह पर, जोर से, उलट पड़ती है !···हाँ, दुनिया कमजोरों की नहीं, बलवानों की होती है। जो उँगली दिखाए, उसकी आखें निकाल लो। जो सूई चुभाए, उसके कलेजे में खंजर घुसेड़ दो। बस, दुनिया तुम्हारी भक्त हो जाएगी !" कुछ रुककर बहन का मुँह देखने लगती है—"बहन, बुरा न मानो, तो एक बात कहूँ···"

"तुमसे बुरा मानना···"

"तुम अपने पास से उस लफंगे को क्यों न हटा देती ?"

"किसे—आंजनेय को ?"

"हाँ, उसी के कारण समाज में तुम पर उँगली उठती है।

उसे समझा-बुझा दो—शादी कर ले !···समाज गुप्त रूप से सब-कुछ सहन कर लेगा; पर, प्रकट रूप से किसी का हँसना-बोलना भी उसे न भाएगा। देखते ही, बारूद की तरह, वह भड़क उठता है ! इसी से कहती हूँ—आंजनेय को अपने पास से हटा दो।"

लक्ष्मी कुछ देर सोच में पड़ी रही। उसके गम्भीर मुख-मण्डल पर एक पतली छाया दौड़ने लगी। किन्तु शीघ्र सम्हल कर उसने कहा—"शैलजा, हटा देने से वह कहीं का नहीं रहेगा; पथ-भ्रष्ट हो जाएगा। वह बचपन का साथी और प्रेम-पागल है ! उस पागल प्रवाह को मैं एक शक्तिपुंज में परिणत कर देना चाहती हूँ। देखती नहीं, वह कितना पढ़ा-लिखा और महत्त्व का कैसा भूखा है ! उस पर प्रेम का सर्वग्रासी नशा चढ़ गया था, जो अब धीरे-धीरे उतर रहा है। ऐसी हालत में बागडोर कैसे छोड़ दी जाए उसकी ?"—कुछ अस्थिर होकर वह संकोचा-वरण हटा देती है; और, फिर अपना अन्तर खोल देती है—"एक बात और है, शैलजा ! शायद तुम्हें कुछ आश्चर्य भी हो।···सच पूछो, तो उसके साहचर्य में मुझे कुछ संजीवनी ऊष्मा मिलती है, जो चतुर्दिक् से उठने वाले इस हिम-शीतल घनान्धकार से मेरी रक्षा करती है—जीवन का यह लोभ मैं कैसे छोड़ दूँ, शैलजा ?···" सहसा उसके नयनों में निर्मल नीलिमा चमकने लग जाती है—"और देखो, प्रेम की प्रेरणा जब त्याग के तट पर आ जाती है, तब वह वासनात्मक नहीं रह जाती—शुद्ध 'मधुगंध' बन जाती है !···आंजनेय का प्रेम भी अब उसी

तरह तपकर 'कुन्दन' होता जा रहा है, शैलजा। उसका सुन्दर उपयोग किया जा सकता है। वह मेरे भोग-विलास का साथी न हो सका, न सही; पर सत्कार्य का साथी तो हो सकता है। जीने के लिए यह सहयोग तो उससे लेना ही होगा। अन्यथा वह भटक जाएगा, मैं भी शक्ति-शून्य होकर कहीं की नहीं रहूँगी!...शैलजा, यह सौजन्य की ही नहीं—जीवन की भी माँग है। तुम्हीं कहो, इसकी अवहेलना कैसे की जाए?"

शैलजा तन्मय होकर बहन की बातें सुन रही थी। एक-एक अक्षर रत्न-कण-सा प्रतीत होता था। उसका रोम-रोम पुलकित हो रहा था। लक्ष्मी की यह साफ-गोई उसे एक अगम्य रहस्य-लोक में उठा ले गई। स्नेह और श्रद्धा से उमड़कर वह बहन के चरणों में झुक गई—'देवी बहन, मेरी!'

लक्ष्मी ने, आह्लाद से आकुल हो, उसे गले से लगा लिया—"आँखों की पुतली मेरी!...क्या कुछ संकुचित हो गई?"

उत्फुल्ल वदना शैलजा सोल्लास कह उठी—"तुम्हारे इस साहस पर मैं अपने सौ-सौ जन्म न्योछावर करती हूँ!—अज्ञान-वश मैंने कभी कोई धृष्टता की हो, तो उसे क्षमा कर देना महीयसी बहन!"

लक्ष्मीने खींचकर उसे छाती से लगा लिया: और देखते-देखते उसके अगाध हृत्तल से दो बड़े-बड़े मोती निकल पड़े; किन्तु तुरत सकुचकर उसकी अमल आँखों की कोर में जा छिपे!...

सूर्य पहाड़ों में छिपता जा रहा था। सहसा, दरवाजे पर शोर मचाती, शैलजा की सखी-सहेलियाँ आ धमकीं। उनकी आहट पाते ही लक्ष्मी बाग में चली गई। शैलजा उन अभ्यागतों की आव-भगत में इधर-उधर दौड़ने लगी। इधर उन चपल चेतनाओं में चटुल चुहल खिल पड़ी :

पान खाती और मंद-मंद मुसकुराती माणिक्यम् ने पूछा—"लक्ष्मी-बहन नहीं दीखती हैं, शैल !"

इधर-उधर निगाह दौड़ाकर कृपाकुमारी बोल उठी—"कहीं फूलों की बहार लूट रही होंगी !"

शैलजा ने हँसकर कहा—"सबको अपनी ही श्रेणी में शामिल समझती हो, कृपारानी !···वसन्त कब आएगा मद्रास से—बताओगी जरा ?"

'वसन्त' की चर्चा चलते ही 'कृपा' का मुँह उतर गया; और, वह भाग खड़ी हुई।

एक भौंरा गुलाब की अपत्र डाल पर बैठा था। उसकी ओर उँगली उठाकर माणिक्यम्‌ने व्यंग किया :

"जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की अपत कटीली डार॥···"

शैलजा की ठोड़ी पकड़कर रुक्मिणी बोली—"यह पुष्प-प्रेमी कितना बड़ा मूर्ख है, शैल ! सुख-सामग्री के नष्ट हो जाने पर भी अपना संगीत नहीं भूलता है !···भला इस सूनी डाल पर इसे क्या सुख मिलता है ? किसी दूसरे फूल पर जाता, तो कुछ रस

भी पाता !"

शकुन्तला ने हँस कर कहा—"शैल ! पराग-प्रेमी मधुकर तो रस-लोलुप होता है, रस की चाह में इधर-उधर भटकता-फिरता है,...फिर यह मूर्ख भ्रमर वैरागी क्यों हो रहा है ?"

शैलजा—"यह तो वैरागी का नहीं, एक महान् रागी का लक्षण है, सखी ! विपत्तियों में भी अपने प्रेमी का साथ न छोड़ना, यही इसका स्पष्टार्थ है।"

माणिक्यम्—"कौन जाने, यह ढोंग रच रहा हो। क्षुधा जाग्रत होते ही उड़ पड़ेगा; और, फिर किसी दूसरे फूल पर जा बैठेगा !"

भृकुटियों पर कुटिलता फैलाकर शकुन्तला विहँस उठी—"हमारी बहन लक्ष्मी क्या करेगी ? उसकी तो कुछ थाह बताओ, शैलरानी !"

शैलजा—"उसी कवि का दूसरा दोहा याद नहीं रखती हो, सखी :

'इहि आसा अटक्यौ रहत, अलि गुलाब के मूल।
है हैं फेरि बसंत रितु, इन डारन वे फूल॥' ."

सखियों की चुहल रुक गई। चुप-चाप वे बाग में चली आईं। शिरीष के पेड़ के पास आकर हठात् वे जोर से चीख उठीं—"साँप ! साँप !!"

सचमुच एक काला नाग सोई हुई लक्ष्मी की वेणी से सटा दीख रहा था। आहट पाते ही वह मनोहर विष-दन्त, फण काढ़

कर अपनी फटी जीभ लप-लपाने लग गया !

बड़ा ही भयंकर दृश्य खड़ा हो गया वहाँ। सखियाँ चिल्लाती हुई बाग से भागीं। लेकिन शैलजा कैसे भाग सकती थी ? वह वहीं हतबुद्धि-सी गड़ी रह गई ! उसके मन में तेजी से प्रश्न चल रहा था—'यह क्या तमाशा है ? कहीं काट तो नहीं खाया है !—हाय, क्या मेरी बहन अब उठेगी नहीं ?...'

उसकी आँखों से झर-झर आँसू गिरने लगे। वह शून्य-सी खड़ी थी। न बहन को जगा सकती थी, न साँप को भगा सकती थी ! और, एक-एक क्षण प्रलयंकर कल्प बनता जा रहा था...

सहसा चार-पाँच आदमियों के साथ भारतीभूषण दौड़ते आ पहुँचे। शैलजा की जान में जान आई।

पिता ने किसी की ओर आँखें न उठाईं; सीधे लक्ष्मी के पास जा खड़ा हुआ; और, ताली बजाकर कहने लगा—"जाओ, देवता—निरपराधिनी को मत सताओ।"

साँप फुफकार मारकर भारतीभूषण पर टूटा; और, निश्चेष्टात्मा लक्ष्मी को लाँघता, बूढ़े के पैरों के बीच से ऐंड़ता हुआ निकल गया। भारतीभूषण के साथी, जो दूर पर खड़े थे, लाठी लेकर उस लम्ब-नारायण की पूजा करने दौड़े, पर, भूषणजी ने घोर आग्रह से उन्हें रोक दिया—"जाने दो बेचारे को !"

"भारी दुष्ट जो है !"

"उसने हमारे साथ तो कोई दुष्टता नहीं की है।—देखो, भले आदमी की तरह चुप-चाप चला जा रहा है !"

"कहीं काट न खाया हो !"

"तो क्या हम भी उसकी कमर तोड़कर, उसका सिर कुचल डालें ?···फिर हम में और उसमें अन्तर ही क्या रह गया ? तब तो हम भी उसी श्रेणी में जा पहुँचेंगे—हम, जो मनुष्य हैं और विवेक का गर्व करते हैं !"

"खून का बदला खून ही होता है !"

"यह जंगल का कानून है, सभ्य-समाज का नहीं ! सृष्टि के समस्त प्राणियों में मानव श्रेष्ठ माना गया है। अतः सभी जीवों पर उसकी समान दया रहनी चाहिए।"

"ऐसे खूँखार प्राणियों पर भी ?"

"इन्हे भी तो विधाता ने ही बनाया है !"

"यह 'संत-धर्म' हो सकता है, साधारण समाज इसका समर्थन नहीं करेगा। उसका सिद्धान्त होगा :

'जिन मोहिं मारा, तिन्ह मै मारा !'···"

यों बहस चल रही थी, कि लक्ष्मी उठ बैठी; और, अपने को अनेक आदमियों से घिरी हुई देख, चकित होकर, बोली—"कब सो गई थी मै ?"

शैलजा दौड़कर उसके पास आ गई; और, व्यग्रता से पूछने लगी—"कहीं काटा तो नहीं, बहन ?"

लक्ष्मी और अचरज में पड़ गई—"यह सब क्या है !"

सब बातें सुनकर उसके विस्मय का ठिकाना न रहा।

घर के सब लोगों ने उस दिन आँखों में ही रात बिताई !

लक्ष्मी, मन-ही-मन, सोच रही थी—"इस नन्हीं-सी जान पर इतनी चढ़ाई क्यों ? क्या मैं धरती के लिए इतनी असह्य भार हो गई हूँ ? एक ओर पराक्रमी पुरुष समाज, दूसरी ओर घात में लगी प्रकृति ! कैसे जान बचाऊँ ?···पर इस काले नाग ने मुझे काटा क्यों नहीं ? मेरे समस्त दुःखों का अन्त हो जाता !···तो क्या इसमें भी कोई रहस्य छिपा हुआ है ?···कौन कह सकता है, कि नियति मेरा क्या उपयोग करना चाहती है !—तो क्या निष्क्रिय होकर उसकी प्रतीक्षा करूँ,···या कुछ विवेक-बुद्धि से भी काम लूँ ?···"

निराधार लतिका डाल पर

प्रचंड वेग से उठती-बैठती दौड़ती-रुकती, क्रुद्ध सर्पिणी-सी फण काढ़ती, फूलों-सी खिलती, सागर की चंचल लहरें आती हैं; और, बालू पर कुछ सिक्त-चिह्न बनाकर लौट जाती है। दूसरे क्षण दूसरी तुंग तरंगें, उसी प्रकार गिरती-पड़ती, उमड़ आती हैं और, पल मारते ही, सभी रेखाओं पर हाथ फेरती, भाग खड़ी होती हैं!

मनुष्य का जीवन भी तो एक तरंगाकुल सागर ही है। उसमें भी सदा-सर्वदा स्मृतियों की लसीली और फेनिल लहरियाँ उठती-बैठती रहती हैं! कुछ देर कुछ रेखाएँ उभर आती हैं, कुछ देर कुछ। जिसके जीवन में असन-वसन की कुछ निश्चिन्तता होती है, वह लहरों का यह लास्य—उसका यह आलोड़न देखता, स्मृतियों की उधेड़बुन मे, कुछ क्षण काट देता है। इसी उद्देश्य से मद्रास के विशाल समुद्र-तट के ऊपर, हर शाम के समय, हजारों मोटरें आ खड़ी होती हैं। उनमें से उतर कर अनगिनती नर-नारियाँ, बाल-बच्चे, बूढ़े-जवान मुलायम बालू पर आ बैठते है; और, मृदुल उँगलियों से अपनी जिन्दगी के नित्य-नूतन नक्शे बनाते रहते है।

लक्ष्मी भी आज आई है इन सिकता-कणों के ऊपर बैठ कर कुछ चित्र खींचने। जब तक उसकी रेखाएँ कुछ

बोझा यत बोझाइ करि
करव रे पार दुखेर तरी,
ढेउयेर' परे धरव पाडि
या (जा) य यदि थाक प्राण ।
आनन्देरि सागर थेके
एसेछे आज बान ।'

"...मैं भी अपने तुच्छ विषाद और नैराश्य को इन्हीं लहरों में डुबो देती हूँ। यों ही निष्क्रिय होकर बैठना जीवन-देवता से विद्रोह करना है। मैं अब उठूँगी, अपनी चिर-चंचल चेतना को पहचानूँगी; और, एक बार उसका विराट् प्रदर्शन करके जगत् को चौंका दूँगी..."

सहसा ठीक पीठ के पीछे सुन पड़ता है :

"ठीक ! बहुत ठीक !!"

लक्ष्मी चौंक कर घूम पड़ती है।

"यही सुनने के लिए तो, अवधि बीतने के पहले ही, अपने-आप, पहुँच गया हूँ। आनन्द-सागर के तट पर मैंने क्षमा-दान की प्रतीक्षा नहीं की। सोचा—अब तक ज्वालामुखी पर्वत शान्त हो गया होगा, उसके मुख पर हरियाली उग आई होगी; और, उसके अन्तर से असीम करुणा पिघल कर फूट पड़ी होगी—निर्झर-सी नाचती। वेणु-कुंजों में वंशी-रव छा गया होगा। कोयल के कण्ठ खुल गए होंगे। गिरि-शृंग फूलों से

लद गए होंगे। और, शीतल पवन, सौरभ बटोरता हुआ, मंद-मंद गमन कर रहा होगा। समतल में मृग-यूथ छलाँगें भर रहे होंगे। और ये सब मिलकर क्षमा-दान के लिए तुम्हें उकसा रहे होंगे।"

"क्षमा···किस लिए ?"

"अपराधी को नष्ट होने से बचाने के लिए। क्षमा उसे संजीवनी देगी—और उपेक्षा उसका गला घोंट देगी!···जीने की चाह है, इसी लिए दौड़ा आया हूँ।"

"फिर कभी कोई शरारत सूझी·· तो !"

"—तो ये चप्पल-चाँटे कहाँ चले गए ?···"

मन्त्र-मुग्ध लक्ष्मी कुछ संकुचित हो रही। आंजनेय के ऊपर उसने चप्पल ताने थे—अपराध की गुरुता पर भी वह बात उसके हृदय में काँटे-सी खटक जाती थी। आंजनेय ने उसकी चर्चा करके लक्ष्मी के संकोच को और बढ़ा दिया। नारी-सम्मेलन मे भाग लेने वह घर से चुपचाप चली आई थी—किसी से कुछ बताए बगैर ! एकाएक यहाँ भी आंजनेय को देखकर पहले कुछ शंका-मिश्रित हलकी खुशी हुई, मगर उसके साथ जब एक अद्भुत लड़की को देखा, तो लक्ष्मी की आशंका और विस्मय का ठिकाना नही रहा—'अरे, इसे कहाँ से उड़ा लाया है ?'···थोड़ी देर वह स्तब्ध-सी रह गई।

लक्ष्मी ने लड़की को गौर से देखती कहा—"पहले इसका परिचय तो दो !"

एक दानपत्र भी रख दिया है—पन्द्रह एकड़ जमीन, एक बंगला और पचीस हजार नकद !···"

लक्ष्मी अतीव चकित होकर बोली—"किस लिए ?"

आंजनेय ने पुलक-हिल्लोल पर झूलते हुए कहा—"स्त्री-संरक्षण के लिए। उनकी इच्छा है, कि उनके उस नहर वाले बँगले में एक 'अबला-आश्रम' खोला जाए। भारतीय आदर्श पर उसमें शिक्षा-दीक्षा दी जाए; और, वह निराश्रित नारियों के लिए आश्रय-स्थल बने।"

लक्ष्मी निर्विकार भाव से बोली—"उद्देश्य तो अच्छा है; पर इसमें मुझे उनकी भीरुता-पूर्ण पलायन-वृत्ति की ही झलक मिलती है—जैसे कोई भूँकते कुत्तों के आगे कुछ टुकड़े फेंक दे!··· अनाथ को अपने घरों में, भाई-बहन की भाँति, क्यों न जगह दी जाए?" कुछ सोचकर वह कहने लगी—"हमारे यहाँ ज्ञान जंगलों में पैदा हुआ, प्रथम प्रभात के साथ उसका उद्घोष भी वहीं होता रहा। पर, जन-समाज में इस आलोक के ऊपर अन्धकार ही फैलता आया है!···अनाथालय, अबला-आश्रम, विधवा-कल्याण—आदि संस्थाएँ हमारी मानसिक दुर्बलता के प्रतीक मात्र हैं। हम अपने घरों को ही आश्रम क्यों न बना दें ? खाते-पीते लोग—हम मध्य-वृत्ति वाले—अनाथाओं, परित्यक्ताओं, पीड़िताओं को अपने साफ-सुथरे घरों में ही जगह क्यों न दें ? रंगनाथ और रामस्वामी अपनी मज्जागत दुर्बलता को, इन परोपकारी भावनाओं की आड़ में, छिपाए रखना चाहते हैं।

मैं दृढ़ता से उसका पर्दाफाश करूँगी; और, सारी शक्ति लगाकर दुनिया से कहूँगी—भाई! यह दान नहीं, दैन्य का दुलारा खिलौना है। इसे अन्तरतम से निकाले बिना पुण्यमयी प्रवृत्तियाँ पनप नहीं सकेंगी।"

आंजनेय खुशी से उछल पड़ा; और, लक्ष्मी तथा सागर की ओर दृष्टि डालते चिल्ला उठा—"बाप रे! तुम तो अगम्य-गोचरा होती जा रही हो। इतनी आग तुममें कहाँ भरी हुई थी?"

लक्ष्मी ने स्वप्निल नयनों से देखकर कहा—"तुम्हें निर्माण करना होगा नारी का नया रूप—निपुण, निर्भीक और शक्तिशाली!"

आंजनेय—"अरे बाबा···लगाऊँ दौड़ इस सपाट रेत पर?···भिड़ जाऊँ इन भूधराकार भयंकर लहरों से?···उछल पड़ूँ इस नीले आसमान में; और, बटोर लाऊँ इसके सारे चमकीले रत्न?"

लक्ष्मी—"हाँ, जो इस कल्लोलित सागर से भिड़ने की क्षमता रखता है, स्वर्ण-कुञ्जों की परियों को भूमि-तल पर उतारने की कला जानता है; और, जो, महावीर वायु-पुत्र की भाँति त्रिकुटी के सिर पर उछल कर, उस स्वर्ण-देश की ओर झाँक सकता है—वही सच्चा 'कवि' कहा जाएगा!···आंजनेय तुम वैसा ही क्रान्त-दर्शी कवि बनो—जो झकझोर कर, गुदगुदा कर, मुग्ध कर, सुप्त चेतनाराजि को जाग्रत कर शक्ति-पुंज में परिणत कर दे।

वादी आदर्शने यूरोप की नारी को इतना तुनुक-मिजाज और उद्दाम बना दिया है—कि वहाँ 'तलाक-प्रथा' एक मामूली बात बन गई है!...हमारा समाज समझौते के आदर्श पर चलता आया है। वह दुःख को सुख की छाया में लाकर छोड़ देता है!...तुमको हेनरी इब्सन से भी ऊँचा उठना होगा!"

अपने तूणीर से अब की आंजनेय ने ब्रह्मास्त्र निकाला:

"क्या कवीन्द्र रवीन्द्र की प्रतिभा माँग लाऊँ ?"

रवीन्द्र का नाम सुनकर लक्ष्मी कुछ सोच में पड़ गई:

"माँग लाओ; पर वहाँ भी एक सावधानी बरतनी होगी।—शौर्य के प्रतीक समर-जयी होकर भी, अस्त्र-शस्त्रों को धूल में फेंककर, नारी के मृदुल चरणों में महावर लगाने के मोह में मत पड़ जाना; और, न नीर-भरी निर्जन सरसी में 'विजयिनी' की निरावरण क्रीड़ा ही देखते रह जाना!"...

गर्व और कुंठा को अपनाती लक्ष्मी उच्छ्वसित-सी कह चली—"कला के क्षेत्र में कवीन्द्र बड़े ही मन-मौजी मास्टर थे। रत्न-राजियों से भरी उनकी 'स्वर्ण-तरी' जाने किस अपर लोक का गान गाती 'उर्वशी' की खोज में, मलय-हिल्लोल पर नाचने लग जाती है!...हाँ, विराट् वासना के अप्रतिम सम्राट् उस 'विश्व-कवि' से अगर लेना ही हो, तो, और सब भूलकर, एक मंत्र जरूर ले लेना—उनका वह अमर गान—'एकला चल रे!'..."

आंजनेय ने भावाश्व को एँड़ लगाते कहा—"अरे रे, अरे रे...क्या करूँ?—उछलूँ, कूदूँ, या चिल्लाऊँ—दुनिया वालो!

देखो—वह क्षीण घटा, जो क्षितिज के उस कोने में आँखें मल रही है, किसी प्रचंड प्रभंजन के आगमन की सूचना देती है··· सावधान !"

लक्ष्मी ने मंद हास्य बिखेर कर उसे टोका—"कविता करना छोड़ो, आंजनेय,—कुछ पुरुषार्थ कर दिखाओ ।"

आंजनेय उमड़ते आह्लाद से बोला—"कार्य-क्रम बना कर साथ लाया हूँ ।" जेब से निकाल कर लक्ष्मी के हाथों में रख देता है—"यह देखो—पढ़ लो ।"

लक्ष्मी आश्चर्य-चकित होकर कहती है—"सारी संपत्ति दे रहे हो ?···जरा गहराई से सोच न लिया—कहीं पीछे पछताना न पड़े !"

आंजनेय ने दृढ़ मुद्रा से कहा—"अगर कभी वैसा हुआ भी, तो 'डिग्री' तो पास में है ही । पेट भरने के लिए क्या कहीं कोई डिसपेंसरी भी नहीं मिल सकेगी ?···मैं डाक्टर जो हूँ, लक्ष्मी !"

लक्ष्मी कुछ सोचकर उत्साहित हो जाती है—"तब मैं अपनी राय बदलती हूँ ।···अब 'अबला-आश्रम' की जो योजनाएँ बन रही हैं, उनमें अपना हाथ लगा दिया जाए ।···देखो— आ ही रही होगी सेक्रेटरी—'मंडल' का विवरण लेकर । अपनी कलाई उलट कर घड़ी देखती—"यही समय दिया था उन्होंने ।"

अपनी रिस्टवाच पर दृष्टि दौड़ाती लक्ष्मी ने घूम कर जन-समागम-संकुल उस विस्तृत सैकत-राशि की ओर देखा; और, देर तक देखती रही—जैसे आने वाले जनस्रोत में वह किसी को

पहचानने का प्रयत्न कर रही हो।

आंजनेय की छाती फूल गई—जैसे वह खुशी से अपने-आप में न समा रहा हो—"वाप रे !···कोई वता दे—किसे बाँट दूँ यह प्रसन्नता !···और कैसे !···अरे, हाँ—कैसे !···लगाऊँ दौड़ इन लहरों के साथ !!"—और, सचमुच ही वह क्रिकेट का खिलाड़ी, विना बॉल के ही, बालिंग करने लग गया—उस गुल-गुल, थुल-थुल तरल पुलिन पर !···

लक्ष्मी वैठी थी गुम-सुम; और, उसकी खुशी आंजनेय के पीछे-पीछे वेतहाशा दौड़ रही थी; पर, अफसोस,—पकड़ न पाती थी ! सुख की हलकी साँस छोड़ वह कहने लगी—"चिर-आलोड़न से भरा यह सागर;—और, चिर-हास-अश्रु-भरा मनुष्य का यह छोटा जीवन !···देखो न—कल वह रोता था; और, आज चौकड़ी भरता है !!···"

थोड़ी देर में, लथ-पथ वने हुए, वे हिरन और हिरनी, लक्ष्मी के पास आकर खड़े हो गए !

"उड़ेलो—दीदी के आँचल में—अपनी निधि !!"

वड़ी मेहनत और माधुरी से चुनी हुई अपनी रजत-सीपियाँ लक्ष्मी के आगे उँड़ेलकर हसीना पास ही वैठ गई। ढुलमुल पलकें उठा-उठा कर वह लक्ष्मी के उदार मुख-मंडल की प्रतिक्रियाएँ देखती रही।

लक्ष्मी हसीना की पीठ पर हाथ फेरती सरल मुसकान से कहने लगी—"इन रत्न-राजियों से द्वार पर 'स्वागतम्' वनाया

जाएगा । बना सकोगी न ?···अच्छा, जरा अपनी उमर बताओगी—हसीना ?"

हसीना कुछ सकुचाती हुई बोली—"अपनी आँखों से ही पूछ लो न—मैं तो नहीं जानती।"

लक्ष्मी—"घर कब छोड़ा ?"

हसीना—"घर हो भी तो !"

लक्ष्मी कुछ कहने जा ही रही थी—कि हसीना उठ खड़ी हुई—और उछलती हुई बोली—"आ रहे हैं वे लोग !"

लक्ष्मी ने घूमकर देखा—भारती-भूषण, रामस्वामी और एक खादी-धारिणी स्थूल-काय महिला—सब बालू से लड़ते-भिड़ते चले आ रहे थे।

लक्ष्मी भी संभ्रम उठ खड़ी हुई; और, कुछ चंचल होती प्रसन्न मुद्रा से उनकी प्रतीक्षा करने लगी।

आंजनेय तो सोत्साह दौड़ पड़ा उनकी अगवानी के लिए।

हाँफते और पसीने से तर-बतर तीनों नवागन्तुक आकर लक्ष्मी के पास बैठ गए। सबसे ज्यादा परेशान वह स्थूल-काय महिला दीख रही थी—जो शायद 'मण्डल' की मन्त्रिणी थी।

उचित अभिवादन के बाद, विमल हास-उजास के साथ दुर्बल, सौम्य, स्वस्थ और शुचि-शरीर रामस्वामी ने धीरे-धीरे बात छेड़ी—"आश्रम के विरोध में आप के विचार हमारे कानो तक पहुँचे हैं।···हम उनका महत्त्व समझते हैं। पर, हमारे विचार में

जो काम एक संगठित संस्था कर सकती है, व्यक्ति से वह संभव नहीं हो सकता। अतः साग्रह अनुरोध है,···आप हमारे सहयोग का स्वागत कीजिए।"

लक्ष्मी विनम्र गंभीरता से बोली—"मैं आप के औदार्य का स्वागत करती हूँ; पर, मेरे विचार कुछ निराले हैं! संभवतः आप लोग उनसे सहमत न हो सकेंगे।···मेरी राय में ईंट-पत्थर जोड़ते ही आदर्श, सिद्धान्त, नीति-नय, आचार-विचार—संकुचित होकर भाग खड़े होते हैं; केवल निश्चल, नेत्र-रंजक, लेकिन निस्सार निलय खड़े रह जाते हैं—विना हाथी के हथसार की तरह! ···बाहर से दीखते हैं वे परम रम्य, भव्य, विशाल; पर, भीतर झाँकने पर असीम शून्यता-ही-शून्यता उनमें आसन जमाए दीख पड़ती है।···और, क्षमा कीजिएगा; ईंट-पत्थर जोड़ने का व्यापार, अकसर वे लोग ही करते हैं, जो धन और नाम कमाने की धुन में परेशान रहते हैं। असली काम करने वाले निस्स्वार्थ व्यक्ति तो फूस की झोपड़ी में भी शौक से रह लेते हैं।···राम स्वामी! जानते ही हो—हमारे सभी ज्ञान-गुरु ग्रन्थ पर्णशालाओं में ही रचे गए थे!"

दुर्बल-देह, किन्तु अपूर्व मनस्वी रामस्वामी गम्भीर होकर सहज दृढ़ता से बोला—"विचार आप का सही है; पर, किसी नाम से घबराने की जरूरत नहीं है; काम तो हम निष्ठा से ही करेंगे।···पिता मेरे पुराने विचार के हैं। उनको हम अब नूतन पथ पर नहीं खींच ला सकते। लेकिन उन्होंने नेक-नीयती से जो

कुछ दिया है, उसे अस्वीकार क्यों किया जाए ? उनका दान-पत्र स्वीकार कर उन्हें कुछ आत्म-तोष प्राप्त करने का मौका क्यो न दिया जाए ?···और, मैं तो संकल्प-पूर्वक अपना जीवन ही उसमें लगा देना चाहता हूँ। इसके लिए जरूरत है एक छोटा दल बनाने की—जो अपना तन-मन-धन संस्था को अर्पित करने की दृढ़ता दिखाए। इस दिशा में आप से हमें आवश्यक मार्ग-दर्शन प्राप्त होगा— यही विश्वास लेकर आया हूॅ।" रामस्वामी के वक्तव्य में आवेश का नाम नहीं था।

भारतीभूषण ने भी बगल से कुछ निकाल कर कहा—"मैं भी इस महानुष्ठान में अपना कुछ योग देना चाहता हूॅ।···यह मेरी आधी संपत्ति का 'दान-पात्र' है। साथ ही खाली पड़ा मेरा वह बँगला और उसके सामने वाला बाग भी 'आश्रम' के काम में लाया जा सकता है।···यह संकल्प मेरा बहुत पुराना है। सिर्फ योग्य कार्य-कर्ताओ के अभाव में अब तक मैं चुप था। अब—जब यह दल तैयार हो गया है, तब देर क्यो की जाए—शुभस्य शीघ्रम् !"

लक्ष्मी हसीना को गौर से देखती हुई कहती है—"हसीना मेरे ही साथ रहेगी—'आश्रम' मे नहीं जाएगी।"

चौंककर आंजनेय ने कहा—"क्यो ?"

लक्ष्मी ने सुस्थिर कण्ठ से जवाब दिया—"इस 'क्यों' का जवाब नही दिया जाएगा—यह मेरी इच्छा है।"

आंजनेय कुछ अप्रतिभ हो गया, पर, कोई आग्रह नहीं

कर सका।

रामस्वामी ने लक्ष्मी की ओर देख मन्द मुसकान से कहा—"लेकिन हम तो आप का ही घर छुड़ाने आए हैं!···पद्मजा बहन से आपकी बातें हो चुकी हैं। आपको आश्रम में चलकर 'आचार्या' का पद लेना होगा।···'नारी' का संपादन तो आप को करना ही पड़ेगा।"

स्थूल-काय एवं कुछ साँवली-सूरत महिला ने अपना आँचल सम्हाला; और, रामस्वामी की ओर नजर घुमाती वह चमकते नयनों से बोली—"भाई रामस्वामी के प्रस्ताव का मैं सहर्ष समर्थन करती हूँ। आप से उम्र में मैं बड़ी हो सकती हूँ (क्या उसमें भी कोई शक था?) पर, आपकी ज्ञान-गरिमा मैं कहाँ पा सकूँगी? आचार्या आप ही हों—मैं सहायक बन जाऊँगी।···"

लक्ष्मी ने अपनी बड़ी-बड़ी पलकों को नीचे गिरा कर कहा—"हाँ, 'नारी' का संपादन मैं कर दूँगी; पर, पिताजी की सेवा छोड़ अभी मैं कहीं आ-जा नहीं सकती। कुछ दिन के लिए आप लोग मुझे क्षमा कर देंगे। बहन पद्मजा आचार्या हों, मैं घर से आकर देख-भाल अवश्य कर दूँगी।"

पद्मजा का शून्य भाल कुछ उन्नत, किन्तु निगाह नीची हो गई। लक्ष्मी ने उन्हें जो गौरव प्रदान किया, उससे वह उल्लसित जरूर होने लगीं; पर, लक्ष्मी की प्रतिभा-दीप्ति की उपेक्षा उनसे सम्भव न थी। अतः वह कुछ दीन भाव से रामस्वामी की ओर देखने लगीं—जैसे कुछ मदद माँग रही हों।

भारतीभूषण अपनी विह्वलता को छिपाते बोले—"बिटिया, जब तक तुम्हारी माँ जीवित हैं, तुम्हे मेरी चिन्ता नहीं करनी होगी। तुम इन लोगों की बातें मान लो।"

लक्ष्मी ने दृढ़ता से कहा—"नहीं,—पिताजी, आप की यह बात मैं नहीं मान सकती। आप की सेवा मुझे करनी ही है। अम्मा के दिन अब चार हैं। उन्हें हाथ-पाँव चलाना नहीं होगा।"

अल्प-भाषी रामस्वामी ने जैसे निर्णय-सा कर दिया—"आचार्या तो आप ही रहेंगी—काम पद्मजा करेंगी। हाँ, साप्ताहिक निरीक्षण के लिए आप का आना आवश्यक होगा—उसके बिना काम नहीं चलेगा।"

पद्मजा प्रसन्नता से चंचल हो उठी; और, हिल-डोल कर लक्ष्मी से कहा—"भाई रामस्वामी हमारी श्रद्धा और विश्वास के प्रिय पात्र है। उनके विवेक और निर्णय को हम आँख मूँदकर मानते आए हैं। अतः आप कृपा-पूर्वक अब दूसरी बात न करें।"

भारतीभूषण—"मान लो, बिटिया!"

लक्ष्मी रामस्वामी की दृढ़ता और उसके सौजन्य से कुछ पुलकित होती, मौन रह गई। मौन स्वीकृति का सूचक है—यह सोच कर सब-के-सब कृतार्थ-से हो गए।

रामस्वामी—"संस्था की 'ट्रस्ट' आप होंगी—चल-अचल सभी संपत्ति आपके नाम पर रहेगी।

लक्ष्मी आंजनेय की ओर नेत्र फेरती बोली—"तुम दोनो को

संयुक्त मंत्री रहना होगा। और, सुन लो—शिक्षा निःशुल्क होगी।"

आंजनेय—"लेकिन हम संस्था से जीवन-वेतन लेंगे।"

सब लोग खिलखिला पड़े। पद्मजा ने कुछ कुतूहल से देखा आंजनेय की ओर—जो खुद एक तमाशा थीं सबके लिए वहाँ !

आंजनेय ने अनावश्यक जिज्ञासा की—"हसीना अब जा सकती है ?"

लक्ष्मी ने मानों यह प्रश्न सुना ही नहीं।

दिन-रात की तरह जीवन में भी आशा-निराशा निरन्तर आती-जाती रहती है। निराशा अपने साथ निष्क्रियता ले आती है; और, आशा सक्रियता की संगिनी बनती है। सक्रियता के आते ही, तेज हवा में भागते हुए बादलों की भाँति, जीवन की सारी उदासी हवा हो जाती है। मन जब विविध कामों में तल्लीन हो जाता है, तब दुःखद स्मृतियाँ उभर नहीं पाती हैं; और, जीवन जीने लायक हो जाता है।

प्रतारिता लक्ष्मी भी अब एक क्षण बेकार नहीं रहती। नित्य सवेरे उठकर पिता को वह अखबार पढ़ सुनाती थी। भोजनोपरान्त अचला-आश्रम का निरीक्षण कर आती थी। तब पिता चरखा कातते रहते। शाम को दरवाजे पर कभी संगीत, कभी साहित्य, कभी धर्म-ग्रन्थों का पारायण होता। लक्ष्मी अब बाप के हाथों की मजबूत लकड़ी, उनके कमजोर नेत्रों की

विमल ज्योति तथा उनके जरा-जर्जर शरीर की मानों साँस ही हो चली थी। उनसे अनेक तरह के प्रश्न करके वह अपना ज्ञान-वर्धन भी करती जाती थी।···पिता भी पूरी तरह पुत्री के संरक्षण में आ गया था। बेटी जो कहती, बाप वही करता था। लेकिन जब कभी लक्ष्मी कह बैठती—"पिताजी, अभी आराम कीजिए; चरखा कल चला लीजिएगा।"···तब बाप बेलौस होकर कह देता—"बेटी, तुम्हारी केवल यह बात मैं नहीं मान सकता!"

जैसे चरखा चलाना उसकी श्वास-प्रक्रिया में शामिल हो गया हो!

'चिंता-वीर पुरुष की प्रबल प्रकृति, बाहरी जगत् की उपेक्षा करके, अपना संसार आप रच लेती है। परिस्थितियाँ टकरा कर उस मनस्वी मानव से हार मानती हैं; मानों सागर की तरंगें भूधर से टकराती हों।···लक्ष्मी का दुर्दैव भी घोर आघात देकर चला गया था। जोर की आँधी चली, लहलहाती लतिका शाखा से छूट कर जमीन पर गिर पड़ी; लेकिन वह विनष्ट न हुई। क्रमशः पगतल से जीवन-रस बटोरती, बदन की धूल झाड़कर, वह पनपने लग गई।···

एक दिन शैलजा को बुलाकर लक्ष्मी ने कहा—"शैल, पति का प्यार क्या पिता के प्यार से श्रेष्ठ होता है?"

शैलजा ने कोई जवाब नहीं दिया: वह बहन का मुँह

देखती रह गई।

भावालोक में भ्रमण करती लक्ष्मी साह्लाद कहने लगी :

"इस समय मुझे 'जहाँनारा' की याद बार-बार आती है, शैल।···जहाँनारा शाहजहाँ की बेटी थी और मुमताज उसकी रानी-बेगम। दोनों का प्रेम अपूर्व था। शाहजहाँ ने, अपनी रानी-बेगम की स्मृति में, अपरिमित सोना-चाँदी लुटाकर, 'ताज-महल' के नाम से दुनिया का एक महान् आश्चर्य यमुना के किनारे खड़ा कर दिया। तब से जगत् के जौहरी आते हैं; और उसकी ओर सिर उठाकर भौंचक रह जाते है। धन्य मुमताज का भाग्य !···उधर शाहजहाँ के भाग्य ने भी पलटा खाया ! उसके सपूत औरंगजेब ने, आराम देने के ख्याल से, बाप को कैद-खाने में डाल दिया !···अब बेटी जहाँनारा के प्रेम की बारी आई। जालिम बादशाह-भाई की टेढ़ी भौंह की कोई परवाह न करके, वह उस कारागार में घुसी; और, बेबस बने बाप की सेवा-टहल मे, ताजिन्दगी हाजिर रही···"

शैलजा ने उत्सुक जिज्ञासा से पूछा—"क्या जहाँनारा की शादी नहीं हुई थी !"

लक्ष्मी ने गौरव की आँखों से देखती कहा—"नहीं; आजन्म कुमारी रहकर वह पिता की सेवा करती रही। वह देवी सौंदर्य की प्रतिमा और प्रतिभा की मूर्ति थी। कवि और उदार थी। सब से बढ़कर वह मूर्तिमन्त पितृ-भक्त थी। मरते वक्त वह वसीयत कर गई थी, कि उसकी कब्र यों ही खुली छोड़ दी

जाए—उस पर कोई इमारत न खड़ी की जाए !···एक शेर भी वह खुद बना गई थी, जो अब भी कह रहा है—'गरीब की कब्र ढँकने के लिए एक घास ही काफी है !'···" कुछ याद करके वह फिर कहने लगी—"हाँ, एक बार जहाँनारा ने अपनी दासी से दर्पण लाने को कहा। दासी जल्दी-जल्दी आईना ला रही थी, कि अचानक वह उसके हाथ से गिरकर टूट गया। वह चीनी-दर्पण बहुमूल्य था। दासी डरती हुई जहाँनारा के सामने हुई; और, बोली—"संयोग से चीनी आईना टूट गया !"

जहाँनारा मुसकुराती हुई कह उठी—'खूब शुद असबाबे खुद बीनी शिकस्त !'

अर्थात्—अच्छा ही हुआ, कि अहंकार का एक साधन टूट गया !"

शान्त स्वर में लक्ष्मी कहती गई—"शैलजा, पातिव्रत्य महान् धर्म हो सकता है, किन्तु पितृव्रत उससे भी महान्—असामान्य धर्म है ! प्रथम में त्याग है, तपस्या है और सेवा है; पर वह है प्रेम-मय, उल्लासमय और स्वार्थमय। दूसरे में भी सब कुछ है; पर है वह स्वार्थ और विलास की भावना से परे—सिर्फ पवित्र प्रेममय।···कितना गौरवमय पथ है यह;—पर, पथिक कितने कम दीख पड़ते हैं इस पथ पर, शैल !···भगवान् करें, मैं जहाँनारा का कुछ पदानुगमन कर सकूँ।"

जगत् की स्थूल दृष्टि में हमारी लक्ष्मी चाहे जो रही हो;

परन्तु, उसकी अन्तर्दृष्टि ने उसे अद्भुत ढंग से ऊँचा उठा दिया था। पूर्णिमा के नयनाभिराम चाँद की तरह, यथार्थ ही, वह अपने पुनीत भावाकाश में स्वैर-विहार कर रही थी !···

दूर से ही दुःख भयावह मालूम पड़ता है। पास आने पर—सहवास होने से—वह भी सखा बन जाता है। पहले जिसकी कल्पना भी काटे दौड़ती थी, पीछे उसी के साथ मनुष्य किलोलें करने लग जाता है !···

कितना रहस्य-मय है यह मानव-प्राणी !

मधुचक्र

कृष्णा की बड़ी नहर के तट पर लह-लहाता रंगनाथ का वह विशाल बाग अब 'अबलाश्रम' में बदल गया था। लक्ष्मी, रंगनाथ के सुपुत्र रामस्वामी और आंजनेय—त्रिमूर्ति उस आश्रम की उन्नति के लिए एँड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे थे। उनके पास साधनों की कमी नहीं थी। समाज उनका विश्वास करता था; और, वह 'आश्रम' एक अद्भुत जीवन-संगीत और कर्म-कलस्वन के साथ मुखरित हो उठा था। उसके बहुत-से वर्ग तो पेड़ों के नीचे शीतल सुखद छाया में ही चलते थे। कहीं साहित्य, कहीं संगीत, कहीं चित्र-कला, कहीं सिलाई, कहीं देशी-विदेशी कई खेल; तो कहीं दौड़, कहीं कसरत, कहीं लाठी-संचालन, कहीं बोटिंग, तो कहीं तैरने आदि के पुलक-प्रद दृश्य देख पड़ते थे। कहीं पाक-विधान की व्यावहारिक शिक्षा दी जा रही थी, कहीं शाक-सब्जियों की क्यारियाँ खड़ी की जा रही थीं। कहीं विविध पुष्प मस्ती से खिल रहे थे।···वहाँ कोई मुख उदास नजर नहीं आता था, कोई हाथ रिक्त नहीं दीख पड़ता था, कोई पैर गति-शून्य नहीं जान पड़ता था तथा कोई मन कल्पना-रहित नहीं मालूम होता था। जीवन! जीवन!! जीवन!!!—सर्वत्र उमड़ती सरिता-सी चेतना दौड़ रही थी। चातुर्य की चंचलता, स्फूर्ति का संगीत, विनय का माधुर्य, शक्ति का स्वस्थ सौन्दर्य—जहाँ देखिए,

वहाँ मचलते तथा खिलखिलाते जान पड़ते थे।

आलोकमय आकाश झुककर उस 'आश्रम' को झाँक लेता था; हठीला पवन कभी कुसुम-कुञ्जों में घुस जाता, कभी लताओं को झुलाने लग जाता, कभी वकुल को पकड़ कर झकझोर देता, तो कभी किसी का अंचल ही उड़ा देता था।···रात आती थी; और, अपने साथ वह निस्तब्धता ले आती थी। तारिकाएँ आश्रम में उतर आने को तरसती थीं। निशा-सुन्दरी कभी मुख पर घूँघट डाल लेती; और, कभी उसे हटाकर पागल-सी हँसने लग जाती थी: उसकी वेदना इसलिए अपार हो जाती थी, कि कोई उसके आँसू नहीं पोछता—सारा 'अवलाश्रम' नौ वजते ही नीरव हो जाता था।

'आश्रम' के अन्दरूनी जीवन के अलावा, लोक-सम्पर्क का वड़ा ही महत्त्व-पूर्ण जीवन, आश्रम के वाहर के ग्रामों में, विकसित हो रहा था। लम्बी छुट्टियों में, आचार्या के अधीन, एक सेविका दल पास-पड़ोस के गाँवों में, शुद्ध सेवा-भाव से, परिभ्रमण करने लगा था। वह वड़ा ही विस्मयकारी दल था, जिसका प्रधान उद्देश्य था—ठेठ देहातों में, असभ्य जंगली जातियों में, अछूतों की वस्तियों मे जाकर, औरतों के वीच साक्षरता, शिशु-पालन और स्वास्थ्य-रक्षा का प्रचार-प्रसार करना। यह कार्यक्रम इतना आकर्षक सिद्ध हुआ, कि ऊँच-नीच का ख्याल छोड़ कर, समस्त ग्राम ही इकाई का क्षेत्र वन गया।

संयोग से अवसर ही ऐसे आने लगे, कि सेविका-दल के

सामने किसी प्रकार का भेद करना असंभव हो गया। अपने छोटे-से जीवन में ही उसे कई भयंकर परिस्थितियों का, अपूर्व साहस के साथ सामना करना पड़ा। अभी-अभी कुछ गाँवों से ऐसी सूचना मिली, कि हैजे का भीषण प्रकोप फैला हुआ है; और किसी का ध्यान उधर नहीं है। खबर की भयंकरता प्रतिदिन बढ़ने लगी। अछूतों के पुरवे-के-पुरवे जन-शून्य हो गए। ऊँचे वर्गों के घरो में औरतो, शिशुओ और नौजवानों पर मृत्युदेव की विशेष कृपा हुई। लोग ऐसे गिरने लग गए, जैसे आँधी चलने पर आम के बाग में कच्चे-पक्के फल पटापट गिरने लग जाते हैं।

खबर मिली :

अमुक गॉव में, कई घरों के बीच, सिर्फ दो-चार बूढ़े-बूढ़ी ही बच रहे हैं—शेष मौत के मुँह में चले गए! हालत ऐसी विचित्र थी, कि साँझ होते-होते दो मित्र इस भयभीत दृष्टि से मिले, जैसे कह रहे हों—जानें सवेरे हम मिलते हैं, या नहीं!...सच ही सवेरे दोनों आदमी मरघट मे ही मिलते पाए गए!...

कहीं किसी घर में शंका और करुणा-भरी-दृष्टि से पति ने पत्नी से शहर जाने की इजाजत मॉगी, और, बेचारा फिर वापस न आया! मौत का ढंग भी कुछ विचित्र था। दो-चार उल्टी-सीधी हुई, और, प्राण फट् से रह गए! जो सॉस ले रहे थे, वे भी मानों मौत के ऑगन मे ही घूस रहे थे। कुछ लोग तो डर से ही बीमार पड़ जाते थे। कोई किसी के पास फटकता नहीं था। दुगुनी-तिगुनी फीस का लालच देने पर भी कोई डाक्टर

कदम रखने को तैयार न होता था।

ऐसी भीषण स्थिति में आश्रम का वह सेविका-दल, देवदूत के सदृश, घर-घर जाकर सेवा-सुश्रूषा कर रहा था। और तारीफ यह, कि जहाँ वह पहुँच जाता था, बीमार उठ बैठता था। जैसे कोई जादूगर अजगर के मुँह में जाते हुए को पकड़कर खींच ले। इस दल को देखकर बीमारी दुबकी, डरी और भागने लगी।

गाँव के लोगों ने पहले तो इस दल को शंका से देखा; भारी बेवकूफ समझा; और, एक दूसरे के कान में जाकर कहा—'चींटियों के पर जमे हैं!' लेकिन, जब उन्होंने देखा, कि जो लोग अब तक थर-थर काँप रहे थे, 'दल' के आते ही उनके पाँव स्थिरता से जमीन पर पड़ने लगे। जो लोग कोने में छिपे बैठे थे, उस 'दल' को देखकर बेखौफ इधर-उधर घूमने लगे। जो तमिस्रा में साँस की अंतिम घड़ियाँ गिन रहे थे, सुप्रभात की कल्पना करने लग गए थे—तब तो वे उन्हें भगवान् के भेजे हुए ही समझने लग गए!...

सचमुच जो बिना बुलाए, विपत्ति की भयंकर घड़ियों में, साहस के साथ बगल में आ बैठता है; घोर संकट में निस्वार्थ भाव से सेवा करता है, जिसे मरने का भी डर नहीं होता, जिसके साहस को देखकर यम के दूत भी सहम जाते, जिनके पैर रखते ही उजड़े बाग में बसन्त आ बसता था; उनसे बढ़कर 'अपना' इस संसार में उनका और कौन होता?...

पहले तो वे गँवार देहाती डरे, कि इन्हें वे फीस कहाँ से

लाकर देंगे ? उनके घर में खाने को तो कुछ था नहीं ! लेकिन उनकी बात सुनकर जब 'दल' की संचालिका हँस पड़ी—'हम सेवा करने आई हैं ! फीस लेने वाले कोई दूसरे होते हैं !'—तब उन मूक मानवों के विस्मय का ठिकाना नहीं रहा—'अरे, इस जालिम जमाने में भी, ऐसे परोपकारी लोग होते हैं—सो भी औरतें !...'

सेविक-दलने उस बीमारी को मार भगाकर लड़खड़ाते लोगों में नव-जीवन का संचार कर दिया। इतने-से-ही उन्होंने अपने कर्तव्य की इति-श्री नहीं समझी। उन्होने गॉव वालों को यह भी बताया, कि बीमारी से बचे रहने के लिए कौन-कौन-सी सावधानी बरतनी चाहिए। इसके लिए उन लोगोने अपने हाथों गॉवो की सफाई की; और, स्वास्थ्य-रक्षा के लिए हमेशा साफ रहने, साफ पानी पीने; और, कुएँ-तालाब को साफ रखने की आवश्यक विधियाँ भी बताई।

और, जब उन्होंने उन गॉवों में साक्षरता के वर्ग खोले, और, घर-घर जाकर पढ़ना-लिखना सीखने का न्योता देने लगे, तब—तब तो बूढ़ियाँ भी लाठी टेकती, वहॉ पहुँचने लगीं, जो पूछने पर आह्लाद से कह उठतीं—"मरते-मरते दो अक्षर रामायण के तो पढ़ लें हम; जिससे जीवन तर जाएगा।" फिर जब शिशु-पालन, कसीदा काढ़ना और गाना भी औरतें सीखने लगीं, तब तो उनके आश्चर्य और आह्लाद का कोई ठिकाना न रहा। यह सब देख-सुनकर तो गाँव के बूढ़े-जवान-बच्चे—सभी रात के वर्ग

में आ-आकर बैठने और लिखने-पढ़ने लग गए। रामायण पढ़ाने के साथ-साथ लक्ष्मी उन्हें समाज, राजनीति और ग्रामोत्थान की बातें भी बताती थी। यों साक्षरता का यह कार्य-क्रम इतना आकर्षक हुआ, कि जो गाँव पहले, साँझ होते ही निस्तब्ध हो जाते थे, वहाँ अब दस-दस बजे रात तक, दीपक की लौ में बैठ, लोग कुछ-न-कुछ करते दिखाई देते थे!

इस प्रकार, जहाँ निराशा जमकर बैठी थी, वहाँ आशा की ज्योति पैदा हुई; जहाँ अज्ञान जड़ फैलाए खड़ा था, वहाँ ज्ञान, जिज्ञासा, कौतूहल आ-आकर झाँकने लगे।···यह नहीं था, कि गाँव में सब-के-सब 'आश्रम' के समर्थक ही हो। नहीं, कुछ दुष्ट-प्रकृति वालोंने इस दल के बारे में अनेक अनर्गल बातें भी फैलाईं। धूर्त गोपाल का इसमें सब से बड़ा हाथ था। लक्ष्मी को लांछित करने में उसने कुछ भी उठा नहीं रखा। कई जगह उन दुष्टों के साथ भिड़न्त भी हो गई; लेकिन सूरज को कोई हथेलियों से कैसे छिपा सकता था?

ऐसे स्थलों पर आंजनेय का पौरुष देखने लायक होता था।

शुद्ध सेवा-भावना से अनुराग पैदा होता है; और, वह अनुराग अपने को व्यक्त करने के मौके ढूँढ़ा करता है। संकट के साथी को सुखमय समय में भला कौन भुला सकता था? कहीं कोई भी शुभ कार्य हो, 'आश्रम' को निमंत्रण जरूर आता; और, अयाचित रूप से उमड़कर लोग अपनी भेंट चढ़ा जाते।

किसी के छप्पर पर फैली हुई लौकी और कुम्हड़े का पहला फल सानुराग 'आश्रम' में पहुँच जाता था। देहाती किसान जो फसल तैयार करता था, उसका अग्रिम अंश 'आश्रम' के ऑगन में अपने आप ढेर हो जाता था। मकर-संक्रान्ति आती थी, गॉव-गाँव से संग्रह करके लोग चावल, अरहर, उड़द, तरकारियाँ—आदि गाड़ी पर लाद-लादकर साह्लाद 'आश्रम' में पहुँचा आते थे। किसी के घर में शादी होती, वह 'आश्रम' के नाम पर कुछ द्रव्यांश अलग कर देता था। उसी तरह गमी हो, पर्व-त्योहार आए, उत्सव हो—'आश्रम' का दान-अंश सब से पहले सुरक्षित कर लिया जाता था।

यों स्वेच्छा से प्रवाहित निधि-स्रोत 'आश्रम' का रास्ता ढूँढ़ने लग गए।

जब कभी लक्ष्मी उन गॉवों मे पहुँचती, तो लोगों की जबर्दस्त भीड़ जमा हो जाती। बाल-बच्चे, बूढ़े-जवान, औरत-मर्द—सभी घेरकर खड़े हो जाते—जैसे कोई रानी ही आ गई हो उनके बीच। लक्ष्मी को यह देखकर आश्चर्य होता, कि गॉवो में भी लोग उसकी 'नारी' पत्रिका शौक से पढ़ने लग गए थे!···हॉ, कुछ नर ऐसे अवश्य थे, जिन्हें 'नारी' के विचार विप्लव-कारी प्रतीत होते थे; और, जो यह नहीं चाहते थे, कि घर की औरतें उसे पढ़ें।

आश्रम की लोक-प्रियता इतनी तेजी से बढ़ चली, कि

उसके अधिकारियों को और मकान बनवाने की चिन्ता हो गई। लेकिन लक्ष्मी के सामने किसी को कुछ कहने की हिम्मत नहीं होती थी; क्योंकि सब को ज्ञात था, कि वह इसका विरोध करेगी। फिर भी जब अयाचित रूप से, और आग्रह के साथ, कुछ रकम आश्रम का रास्ता ढूंढ़ने लग गई, तब दोनों मंत्रियों का साहस बढ़ा; और, दोनों ने लक्ष्मी से बहस करने का निश्चय कर लिया। साथ ही लड़कियों के भी कई प्रश्न उत्तर की प्रतीक्षा में थे। कोई नाटक खेलना चाहती थी, कोई पिकनिक पार्टी के लिए किसी पहाड़ी पर जाने की आकुलता दिखा रही थी, किसी को घुड़-सवारी सीखने की उतावली थी।

दूसरे दिन···

दस की घंटी बजते ही 'अबला-आश्रम' का आफिस खुला; और, सफेद खादी की पोशाक में, आंजनेय और रामस्वामी कमरे में घुसे। दोनो अपनी-अपनी कुर्सी पर बैठे ही थे, कि कोई फूलो का एक गुच्छा मेज पर सजाकर रख गई। आंजनेय ने नजर उठाई; और, चौकड़ी भरती उस लड़की का दूर तक पीछा किया। फिर जैसे कुछ याद आ जाए; सिर झुकाकर, गुम-सुम, वह अपने काम में लग गया।

जब-तब, आप-ही-आप, उसकी दृष्टि उस गुच्छे पर पड़ जाती थी; और, वह उसके दल-फूल के रूप-रंग तथा उसकी कलात्मक सजावट को मन-ही-मन सराहने लग जाता था—वाह,

कितना अच्छा बना है यह गुच्छा !

फिर कुछ हिल-डोल कर वह अपने काम में लग जाता था। मुख पर दृढ़ता के चिह्न बढ़ते जाते थे, और, गुच्छा नजरों से गायब हो जाता था।·· डाक आई, और, उसके देखने में, सहसा वह सब कुछ भूल गया।

बारह बजे लक्ष्मी के आने का समय था। उसका ख्याल करता वह कार्य-व्यस्त हो उठा। कुछ क्षण यों ही उस व्यस्तता में बीत गए; और, गुच्छे की बात वह बिलकुल भूल गया।

सहसा जैसे कोई आकर उसके कानों में चुपचाप कुछ कह गया!—कितनी देर तक उसे नहीं देखोगे?···उसकी सजावट, उसकी सुरभि, सुकुमारता···जैसे कुछ याचना कर रही हो !

चौंक कर उसने नजर उठाई; और, पुलकित नयनों से गुच्छे को देख लिया !···देखते-देखते जैसे कोई सावधान कर गया—अपने काम में लगे रहो, ये सब फालतू बातें हैं ! ··

कुछ चंचल होकर उसने नजर घुमा ली, और, कठोर मुद्रा से रजिस्टरों को देखने लग गया। रामस्वामी से जरूरी बातें करता जाता था, कि क्षणान्तर में, सब कुछ भूलकर, पुनः गुच्छे की ओर वह मुग्ध भाव से देखने लग गया !—देखते-देखते सहसा उसके मुँह से निकल पड़ा—"रामस्वामी, कैसा सुन्दर है यह गुच्छा !"

रामस्वामी ने न गुच्छे को देखा, और न उसके सम्बन्ध में कोई बात ही की। उसका ध्यान बही-खातों में जमा रहा।

आंजनेय ने उसकी ओर कनखियों से देखा; और, एक

स्पर्धा के साथ, अपने काम में लग गया। बात की बात में एक आँधी-सी मच गई—यह लाओ, वह लाओ; सब को आचार्या के पास उपस्थित करना है !···

रामस्वामी शान्त भाव से सब कुछ सुनता रहा। वह आंजनेय के प्रति बड़े भाई-सा आदर-भाव रखता था। बोलता बहुत कम था—हमेशा काम में निमग्न रहता था—अत्यन्त एकाग्रता के साथ। उसकी तल्लीनता मौन-साधना के समीप पहुँच चुकी थी।

"दीदी आई !—दीदी आई !!"

आवाज 'आश्रम' के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक गूँज गई। सब के कान खड़े हो गए, सब की दृष्टि तत्पर हो उठी, सब का वजन बढ़ गया। आंजनेय अस्थिर होता उठ खड़ा हुआ; और, बेजरूरत कई बार उस गुच्छे को इधर-उधर रखता रहा। जैसे वह निर्णय कर रहा हो—यह गुच्छा मेज पर रहे, या नहीं,—लक्ष्मी की नजरों में पड़े, या नहीं !···दूसरे ही क्षण वह निर्णयात्मक स्वर में कह उठा—'हटाया ही क्यों जाए इसे मेज पर से ? देखे, शौक से देखे—खुश हो जाएगी !'

काली किनारी वाली सफेद खाद्री की साड़ी पहने, हाथ में मुलायम चमड़े का हैंड-बैग लिए श्री, सौरभ तथा सौजन्य की वर्षा-सी करती, लक्ष्मी 'आश्रम' में दाखिल हुई।

आफिस में उसके लिए एक खास कमरा था, जो आधुनिक

अभिरुचि से अलंकृत था। छोटी-बड़ी सभी चीजों में सुरुचि झाँक रही थी। पहले वह अपने कमरे में जाकर बैठी; और, कुछ देर मन्त्रियों से बातें करती रही। फिर घंटी बजते ही वर्ग में चली गई।

वर्ग से निकलते ही लड़कियों ने उसे घेर लिया; और, 'पिकनिक' के लिए कहीं बाहर ले चलने का, मचल-मचल कर, अनुरोध करने लगी। लक्ष्मी ने पास के पहाड़ी-किले पर जाने का निश्चय किया। बस, लड़कियाँ खुशी से उछलने लग गई।

फिर अनेक अभाव-अभियोगों का ताँता बँध गया।

"दीदी···"

हसीना हाथ में कुछ लिए, नत-नयन, सामने आ खड़ी हुई।

"बीमार हो गई थी क्या ?"

हसीना हँस देती है—"क्या दुबली दीखती हूँ ?"

"दुबली ही नहीं, कुछ फिकरमंद भी मालूम होती हो—बात क्या है ? क्या आश्रम का हवा-पानी रास नहीं आता है ?"

"वैसी तो कोई बात नहीं, दीदी !"

"ला, क्या दबाए है मुट्ठी में ?"

"देखकर हँसोगी तो नहीं ?"

लक्ष्मी ने उसके हाथ से खादी का रूमाल छीन लिया। हसीना ने उस पर फूल काढ़े थे; और, किनारी पर सुन्दराक्षरों में लिख दिया था—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।"

"यह श्लोक किसने सिखाया ?"

"मंत्रीजी ने।"

"आंजनेय ने ?"

"जी हाँ।"

"कसीदा काढ़ना कहाँ सीखा ?"

"दादी बहुत अच्छा कसीदा काढ़ती थीं। कई बार उन्हें इनाम भी मिला था नुमाइश और दरबार से।"

"किस दरबार से ?"

हसीना चुप हो गई। लक्ष्मी समझ गई, कि पता बताना नहीं चाहती है। उसने भी बहला दिया।

"दीदी, सब लड़कियाँ घुड़-सवारी सीखना चाहती हैं। हमें दो बड़े घोड़े खरीद दो।"

"सिखाएगा कौन ?"

"मैं सिखाऊँगी।"

"तुमने घुड़-सवारी कब-कहाँ सीखी ?"

"बचपन में ही—जब मैं वालिद के साथ छावनी में रहती थी।"

लक्ष्मी का विस्मय बढ़ गया। वह कुछ और पूछना चाहती थी, पर जाने क्या सोचकर उसने विचार बदल दिए। सिर्फ इतना कहा—"अच्छा, खरीद दूँगी।"

उसी समय आश्रम के फाटक पर दो बैलगाड़ियाँ आ खड़ी

हुईं। पूछने पर पता चला कि आस-पास के गाँवो के किसानों ने संक्रान्ति का दान भेजा है—चावल, दाल, तरकारियाँ तथा गुड़!

लक्ष्मी—"हमारे हितैषी तो बढ़ते जाते हैं।···आंजनेय, कविता-कानन में घूम रहे हो क्या? अन्य-मनस्क से दीख पड़ते हो!"

आंजनेय—"हाँ, सोच तो रहा हूँ कुछ वैसा ही, पर, वह कविता ही है, यह दावे के साथ कैसे कहा जाए?"

रामस्वामी—"वार्षिकोत्सव पास पहुँच रहा है। खबर चली है, बड़ी भीड़ इकट्ठी होगी देहातो से। कम-से-कम तीन दिन का कार्य-क्रम रखना होगा।"

हसीना—"लड़कियाँ नाटक खेलना चाहती हैं, दीदी।"

लक्ष्मी—"आंजनेय, तुमने जो नाटक लिखा है, वही क्यो न खेला जाए? पात्रो का चुनाव कर लो, और, रिहर्सल आरम्भ कर दो। याद रखो, हसीना को प्रधान पार्ट देना।"

रामस्वामी—"रंगशाला के लिए जो अपील निकाली गई थी, उसके सम्बन्ध में पूछताछ के कई पत्र आए हैं। चित्रशाला और रंगशाला का काम शुरू ही कर देना चाहिए। आवश्यक रुपए मिल जाएँगे—वचन आए हैं।"

हसीना—"दीदी, नाटक में तुमको भी पार्ट लेना होगा। नहीं, तो लड़कियाँ रूठ जाएँगी।"

लक्ष्मी—"तुम लोगो की इच्छा है, तो कुछ ले लूँगी।'

रामस्वामी—"हमारी साक्षरता प्रचार की योजना में सरकार भी सहयोग पहुँचाना चाहती है। भेंट-मुलाकात की जाए, तो कुछ आर्थिक सहायता भी प्राप्त हो सकती है।"

लक्ष्मी—"सुनो—रामस्वामी, सहयोग हम सभी का स्वीकार करें, पर आर्थिक सहायता के लिए किसी के आगे हाथ न पसारें। 'आश्रम' स्वावलम्बी हो सकता, तो मुझे ज्यादा खुशी होती, परन्तु वह संभव नहीं है। इसलिए जो दान आयाचित रूप से हमें जनता से प्राप्त हो, उसी को हम 'आश्रम' का निधि-स्रोत समझें। जनता की नजर में यदि इस आश्रम का कुछ महत्त्व ऊँचा, बस—बेड़ा पार हुआ। पर, वह गौरव हमें दो ही तरह से प्राप्त हो सकता है—जनता की तत्पर-सेवा से, और अयाचित-भावना से। वह हमारी जरूरत समझकर एक-एक मुट्ठी चावल भी देने लग जाए, तो 'आश्रम' के आँगन में कामधेनु आ खड़ी हो।"

इतना कहते-कहते उसकी मर्म-भेदनी दृष्टि आंजनेय की ओर घूम गई। आंजनेय सिर से पाँव तक सिहर उठा! उसके मुँह से कोई आवाज न निकली। वह कुछ हिल-डोलकर अप्रतिभ रह गया।

रामस्वामी ने धीमे से कहा—"कुछ सेठ—साहुकारों ने अपने नाम पर कुछ कमरे बनवा देने की इच्छा प्रकट की है।···उन्हें क्या जवाब दिया जाए?"

लक्ष्मी—"सधन्यवाद लिख दो—'आवश्यकता पड़नेपर

आपको सूचना दी जाएगी।"···याद रखो—ऐसी गलती कभी न करना। 'आश्रम' में स्वावलम्बन का भाव बढ़ने दो। इस प्रकार के दान से इसकी जड़ें खोखली हो जाएँगी।···जगह न रहेगी, तो हम झोपड़ी में रह लेंगे; पर, कारागार-से उन इमारतों के नीचे नहीं जाएँगे।···जानते हो, वे पैसे कहाँ से आएँगे? झूठ, मक्कारी, पीड़न आदि से जो जमा हुए होंगे, उनके कुछ अंश देकर हमे खरीदा जाएगा। हम इस खतरे को पहचान लें; और, सावधान रहें। कभी उस ओर पैर न बढ़ाएँ!"

रामस्वामी—"वार्षिकोत्सव में अध्यक्ष-पद के लिए किससे अनुरोध किया जाए?···क्या किसी राजनैतिक पुरुष को लिखा जाए?"

लक्ष्मी—"कदापि नहीं! इससे जनता की ममता खो बैठोगे!"

रामस्वामी—"किसी सत्ताधारी को बुलाया जाए?"

लक्ष्मी—"उनसे तो साँप-बिच्छू की तरह बचे रहो। अगर अध्यक्ष तुमको चाहिए ही, तो किसी ग्राम-पंचायत के भोले, नेक और बूढ़े मुखिया या सरपंच को ढूँढ़ लाओ; या किसी रामायण-पढ़ी किसान-औरत को पकड़ लाओ।···बड़े आदमियों के पीछे कभी न पड़ना। वे अपनी इच्छा से संदर्शन करना चाहें, तो सुविधानुसार बुलावा भेज देना।···निश्चय कर लो—या तो गरीबों का विश्वास प्राप्त करोगे, या पैसे की खुशामद करोगे। मेरा संकल्प है, इस संस्था को मैं लोक की चीज

बनाऊँ---स्वार्थी, खुशामदी, यश-लोभियों की छाया भी इस पर नहीं पड़ने दूँ।"

आंजनेय—"किसी साहित्यिक को पकड़ा जाए ?"

लक्ष्मी—"स्वर्गीय द्विवेदीजी जैसा कोई गर्वीला सरस्वती-सेवक मिल जाए, तो चरण पकड़कर ले आना।"

आंजनेय ने धीरे से कहा—"कवि-सम्मेलन का आयोजन किया जाए ?"

लक्ष्मी निहायत नाराजगी का भाव मुँह पर लाती बोली—"ऐसी नादानी कभी न करना।···कविता-पाठ करने के बदले वे नारी-सौन्दर्य का अपमान करने लग जाएँगे।···हाँ, अगर कोई 'एक भारतीय आत्मा' या 'प्रसाद' जैसा कोई विलक्षण कवि मिल जाए, तो उसे जरूर बुला लेना; लेकिन अपनी ओर से कोई निर्देश न देना।"

रामस्वामी विनम्रता के स्वर में बोला—"आप धनियों और सत्ताधारियों से इतना क्यों चिढ़ती हैं ? क्या धनी होना ही अपराध है ?···कारनेगी क्या धनी नहीं था ? वाशिंगटन क्या सत्ताधारी नहीं था ?···हमारे यहाँ भी तो जीवन से 'अर्थ' का बहिष्कार नहीं किया गया है। नीतिकारों ने बड़े गांभीर्य से उद्घोष किया है—"अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थंच चिन्तयेत्।"

लक्ष्मी कुछ अप्रतिभ-सी होती कहने लगी—"तुम्हारा कहना ठीक है—लेकिन अब जीवन का वह प्राचीन विभाजन ही कहाँ रह गया है—जिसके बल पर वह गंभीर उपदेश दिया गया था ?

···उस शान्त-समृद्ध वातावरण में आज के इस अनर्थकारी 'अर्थ' का प्राधान्य नहीं था। अर्थ के लिए समाज के अधिक-संख्यक लोग नीति-धर्म को बेचते न थे!···एक खास उमर में जीवनोपयोगी अर्थ की कुछ चिन्ता वे अवश्य करते थे; और, न्यायोचित मार्ग से चल कर कुछ संचय भी कर लेते थे; लेकिन, आज तो बचपन से सिर्फ एक ही सीख मिलती है—धन, धन, धन! और, वह धन अकसर धर्म की आँखों में धूल झोंककर ही तो प्राप्त होता है। अगर किसी के धनार्जन से देश का कुछ नुकसान होता है, तो धनार्थी उस ओर से आँखें मोड़ लेता है!···लाखो गरीब भूखों मरते हैं, लाखो लोग नंगे फिरते है—लेकिन सर्व-सम्पन्न लोग उस ओर देखकर भी नहीं देखते हैं!···और देखो—धन संचय करने वाला वर्ग संचय तो करता है ही, धन पर नियंत्रण भी रखता है। जब चाहता है, बाजार-दर बढ़ा देता है; और, जब चाहता है, घटा देता है। देश की श्रमिक और बेहाल जनता इस वर्ग के हाथों का खिलौना बनी रहती है।···अतएव तुम अपने इस सरल जीवन वाले 'आश्रम' के लिए किसी चरित्रवान् व्यक्ति को पकड़ो।"

सहसा हसीना कहीं से दौड़ी आई; और, कहने लगी—"एक राजा की दो लड़कियाँ 'आश्रम' में पढ़ने आई हैं—फूल-सी सुकुमारी और देश-भक्त-सी रूप-रंग वाली!···भला वे 'आश्रम' में कैसे रह सकेंगी, दीदी?"

लक्ष्मी ने रामस्वामी से कहा—"उन्हें सादर बुला लाओ।···

क्या आश्रम के नियमादि उन्हें बता दिए गए थे ?"

रामस्वामी ने सुस्थिर भाव से कहा—"सब-कुछ समझ-बूझ-कर ही राजा ने उन्हें यहाँ भेजा है।"

दोनों लड़कियाँ लक्ष्मी के सामने आईं; और, नमस्ते करके चुपचाप खड़ी हो गईं। देखने में दोनों—'को बड छोट कहत अपराधू !'—के उपमान मालूम होती थीं।

लक्ष्मी ने दोनों को अपनी बगल में खींच लिया; और, धीरे-धीरे पूछने लगी—"आश्रम का नियम जानती हो, बेटी ?...यहाँ कोई ऊँच-नीच, छूत-अछूत, गरीब-अमीर नहीं माना जाता है। तुमको सबों के साथ रहना—खाना होगा; और, साथ-साथ काम भी करना होगा।...कर सकोगी, लाड़लियो ?"

कनकम्—"पिताजी ने वैसी कुछ शिक्षा हमें घर पर दी है; पर, पहले सीखने का मौका तो हमें दिया जाए !...पिताजी चाहते हैं, हम दोनो यहाँ के आदर्श पर जीवन बिताएँ। मेरी माँ सवेरे उठ कर पहले हमें 'वंदेमातरम्' गाना सिखाती थीं। हमारे घर में सब-के-सब मोटी खादी ही पहनते हैं।"

लक्ष्मी—"तुम्हारी माँ कुछ पढ़ी लिखी हैं ?"

बड़ी लड़की—"पहले गीता-भागवत पढ़ती थीं, अब अकसर 'नारी' में डूबी रहती है। कहती हैं—इसका एक-एक अक्षर मंत्र है !"

कनकम् अभिमान से बोली—"माँ तो आस-पास के गाँवो

में जाकर शिशु-पालन का प्रचार भी करती हैं; और, लोगों में मुफ्त दवाएँ बाँटती हैं।"

लक्ष्मी—"बहुत अच्छा! रामस्वामी, तो इन्हीं की 'माँ' अध्यक्षा पर बैठेंगी। अनुरोध-पत्र भेज दो!"

दूसरे दिन आश्रम का एक दल पहाड़ियों के बीच एक ऐतिहासिक खंडहर को देखने गया। उस खंडहर के पास पहाड़ के ऊपर एक बड़ा तालाब था—जिसमें सदा अगाध निर्मल जल भरा रहता था। उसी के तट पर वेणु-कुंज में आश्रम-दल ने वनभोजन का प्रोग्राम बनाया। कुछ लड़कियाँ भोजन बनाने में लगीं; और, कुछ सरोवर मे स्नान करने चली गई।

तालाब के दूसरे तट पर कुछ युवक नहा रहे थे। हसीना गगरी लेकर पानी भरने आई। पानी भरकर चली, तो काई पर घड़ा लिए फिसल गई; और, गहरे जल में चली गई। यद्यपि वह तैरने में उस्ताद थी; पर, उस दिन वह साड़ी पहन कर आई थी। साड़ी खुलकर अंगो में लिपट गई; और, वह डूबने लगी। दूसरी तरफ वालों ने यह दुर्घटना देखी; और, वे तैरकर आ गए; तथा हसीना को अथाह जल से खींचकर किनारे पर घसीट लाए। जब यह बात आंजनेय को मालूम हुई, तो तट पर आकर उसने उन लोगो को तहे-दिल से धन्यवाद दिया; और, भोजन के लिए निमंत्रित कर दिया।

भोजनोपरान्त सभी लोग साथ-साथ घूमते रहे।

चलने के समय एक ने धीरे से पूछा—"यह लड़की किस जात की है, बाबूजी ?"

आंजनेय ने कुछ चौंककर जवाब दिया—"आश्रम में कोई किसी की जाति-पाँति नहीं जानता है।"

"नहीं बाबू, यह तो हमारी जात की है। कान नहीं देखते इसके ? इसे आप कहाँ से ले आए हैं ?"

"हम कुछ नहीं जानते। यह हमारे पास आई; और, हमने अनाथ जानकर, इसे 'आश्रम' में रख लिया।"

"क्या आप इसे लौटा दीजिएगा ?"

"किसे—आप कौन हैं इसके ?"

"हम इसके धर्म वाले हैं। आप इसे आश्रम में रख कर हमारे धर्म का अपमान करते हैं !"

"पूछ लीजिए इससे। यह अगर जाना चाहेगी, तो हमें कोई उज्र न होगा।—···हसीना, जाओगी इनके साथ ? ये लोग तुम्हें ले जाना चाहते हैं।"

"ये कौन हैं ?···मैं अपना घर छोड़कर इनके साथ क्यों जाऊँ ? ये लोग कौन होते हैं मेरे ?"

"आप यह बड़ा खतरा मोल ले रहे हैं, बाबूजी !··· जाइए; लेकिन याद रखिएगा—एक दिन इसके लिए आप को पछताना पड़ेगा।"

इस धमकी का किसीने कोई जवाब नहीं दिया।

पिकनिक पार्टी लौट आई। साथ में वे दोनों अजनबी भी

लगे आए। आश्रम को गौर से देख-भाल कर, गुन-धुन करते, वे चले गए।

लक्ष्मीने लड़कियों को सावधान कर दिया।

उसी रात को कुछ गुंडों ने आश्रम पर धावा बोल दिया। लेकिन लड़कियोंने वह दिलेरी दिखाई, ऐसी लाठियाँ चलाई, कि गुंडों के छक्के छूट गए; और, वे सिर पर पाँव रखकर अंधकार में नौ दो ग्यारह हो गए।

सवेरा होने पर देखा गया, कि 'अबला आश्रम' से दूर, नहर के नीचे, बबूलों की झुरमुट में, बड़े तड़के एक ग्रामीण औरत को किसी की कराह सुनाई पड़ी। भूत के भय से भागकर वह औरत गाँव में पहुँची; और, घबराई हुई 'भूत-भूत' चिल्लाने लगी। हल्ला सुनकर ग्रामवासी, लाठी-भाला-बर्छी लिए हुए बबूल-वन मे पहुँचे; और, वहाँ से, भूत के बदले एक घायल आदमी को उठाकर, 'आश्रम' में ले आए। खबर पाकर लक्ष्मी और आंजनेय घबराए हुए आए; और, घायल व्यक्ति को देखकर स्तब्ध-से रह गए! यद्यपि उसके मुँह पर गाढ़ा काला रंग चढ़ा था, पर पहचानने में देर न हुई—वह व्यक्ति उनका चिर-परिचित वही गोपाल था,—जो दोनों हाथों से मुँह ढँके, पानी माँग रहा था!...

जाँच करने पर पता चला, कि लाठी लगने के कारण उनका दाहिना पैर टूटकर सूज गया था जाँघ के पास, और, वह उसकी पीड़ा से वेतरह कराह रहा था। लक्ष्मी और आंजनेय को

देखकर, घृणा और क्रोध से, उस घायल का मुँह और भी विकृत हो गया; और, उसने झट से उनकी ओर से आँखें फेर लीं।

कोई कुछ नहीं बोला—चुपचाप प्राथमिक उपचार करके, बैलगाड़ी पर लिटा, उसे शहर के सदर अस्पताल में भेज दिया गया। हालत खराब दीखती थी।

गाड़ी पर चढ़ते समय, कराहता हुआ गोपाल, आग्नेय नेत्रों से आश्रम की ओर देख रहा था—जैसे वह सब को निगल ही जाएगा!...

लक्ष्मी गम्भीर चिन्ता में थीं; और, मार्मिक दृष्टि से आंजनेय को देख रही थी। स्पष्ट था—कि गत रात की चढ़ाई का सरदार यही गोपाल था। इस दू-जीभे साँप की कमर पर वजनदार लाठी पड़ी थी; और, वह फण काढ़कर जीभ फटकार रहा था; पर अपनी जगह से खिसक नहीं सकता था!

दूसरे दिन सदर अस्पताल से लौटा हुआ गाड़ीवान बोला—'डाक्टर लोग उसके पैर काट देने की बात कर रहे थे!' यह सुनकर लक्ष्मी और आंजनेय और भी गम्भीर हो गए; और, मौन वाणी में जैसे कहते-सुनते रहे—'कुकर्मों की सजा तो भुगतनी ही होती है सब को!'...

दूसरे दिन जब यह खबर गाँवों में फैली, तो हजारों आदमियों का ताँता लग गया आश्रम में। जो ही सुनता, वही कहता—'अरे इन औरतों ने तो पुरुषों के कान काट लिए।'...'हाँ, शिक्षा हो, तो ऐसी!'...

पुलिन की पुकार

चन्द-खिलौना लेने के लिए, रुदन करता हुआ हठीला बालक, जल में उसका प्रतिबिम्ब देखकर, चुप हो जाता है—रोना भूल जाता है। बालक का हठ मशहूर है, लेकिन वह भी उपाय करने से मचलना छोड़ देता है। परन्तु, प्रौढ़ मनुष्य का मन यों आसानी से समझने वाला नहीं होता है। अकसर वह ठोकर-पर-ठोकर खाता रहता है, प्रतिज्ञा-पर-प्रतिज्ञा करता जाता है, प्रयत्न-पर-प्रयत्न चलता रहता है; पर, लौटकर जब देखता है, तो अपने को जहाँ-का-तहाँ खड़ा हुआ पाता है। उसका सारा संकल्प कहीं सो जाता है; और, वह मचल कर—'चन्द-खिलौना लैहों मैया'—कहने लग जाता है। उसकी सारी समझदारी कहीं सैर करने चली जाती है, उसका अनुभव अंधा हो जाता है, ठोकरें भूल जाती हैं; और, फिर उसी वृत्ति के साथ वह क्रीड़ा करने लग जाता है! अगम्य इंगितें करने वाली नियति-नटी, वक्र व्रीड़ा से अभागे मानवों की वह क्रीड़ा देखती रहती है; और, मंद-स्मित करके अदृश्य हो जाती है—'सावधान! आगे खंदक-खाई है!'···यह सब देख-सुनकर भी अक्लमंद आदमी का हठीला मन मानता है क्या—कभी पश्चात्-पद होता है क्या?···

आंजनेय आश्रम का संयुक्त-मंत्री था; अपनी जिम्मेवारी

जानता था, पहले कई बार ठोंकरें खा चुका था; संकल्प और शपथों से भरा हुआ था; और, बड़ी सावधानी से कदम उठाता चल रहा था। फिर भी कभी-कभी ऐसा देखा जाता है, कि जिससे हम बचकर चलना चाहते हैं, ठीक वही वाकया सामने आ जाता है! उस समय आदमी के लिए बचना सरल नहीं होता,—अदबदाकर गिर पड़ना ही सहज हो जाता है।

और, यों जान-बूझकर गड्ढे में गिरना साधारण लोगों के ही नहीं—बड़े-बड़ों के भाग्य में भी, निष्ठुर विधाता लिखता आया है!···

हसीना आश्रम की प्यारी और लक्ष्मी की दुलारी विद्यार्थिनी थी। सेविका-दल का संचालन अकसर वही किया करती थी। लोक-संपर्क का कार्य-क्रम प्रायः उसी का मुँह जोहा करता था। लक्ष्मी ने बड़े विश्वास के साथ उसके हाथों में यह कार्य सौंप दिया था। और हसीना भक्ति-भावना से उस विश्वास को सदा अक्षुण्ण बनाए रखने का संकल्प करती आई थी। वह विश्वास, लवंग-लता की तरह बढ़कर, चतुर्दिक् फैल गया था।

लक्ष्मी के बाद, आश्रम में रामस्वामी और हसीना का ही, संमाननीय स्थान था :

आश्रम की उस मनोहारिनी हरिनी पर, मंत्री-प्रवर आंजनेय की दुर्दम दृष्टि पड़ी। हसीना सीधे उसके नेत्रों में जा बसी;

और, धीरे-धीरे, उसकी समस्त भावनाओं पर उसने अनिवार्य रूप से अधिकार जमा लिया। आंजनेय को लक्ष्मी का आतंक याद था, आश्रम की पवित्रता उसके ध्यान में थी, और अपनी शक्ति पर भी भारी भरोसा था। इसलिए उसने खूब डटकर, अपने-आप-से, लोहा लिया।

आफिस में आते ही, वह हरिनी हस्व-दस्तूर उसकी मेज पर फूलों का गुच्छा रख गई। आंजनेय सोचने लगा—'रोज-रोज इसकी क्या जरूरत है? एक दिन दे गई, हो गया। कल मना कर दूँगा।'...

दूसरे दिन संकल्प लिए वह बैठा था : उस दिन भी यथा-समय मेज पर गुच्छा आ गया; और, वह निश्चल देखता रह गया! हसीना के चले जाने पर, वह चौंक उठा—'अरे, वह आई और चली भी गई, और, मैंने उसे रोका नहीं?'...'अच्छा, कल जरूर रोक दूँगा!'...

कल हुआ; और, फिर वही कार्य-क्रम दुहराया गया।

आंजनेय कुंठित मन से सोचने लगा—'वह क्यों बार-बार मेरी नजरों में पड़ने का प्रयास करती रहती है?'...'क्या यह उसकी सरल चंचलता है? या इसके अन्दर कोई मर्म भरा हुआ है?'...

पहले तो उसने इसकी उपेक्षा की, मन से उस मोहिनी मूर्ति को मार भगाया; और, बड़ी सरगर्मी से अपने काम में लग

गया। लेकिन कुछ ही दिनों के बाद, सब कुछ भूल कर, वह उसके भोले मुख की याद करते पाया गया। बरौनियों के बीच, खंजन से फँसे, ढुल-मुल उसके लोचन-द्वय जब-न-तब आंजनेय के मन में सजीव हो उठते; और, वह फाइलें पटक कर, उठ खड़ा होता—"रामस्वामी, आश्रम में सब को एक ही पोशाक पहननी चाहिए। रोक दो उस पंजाबी-ड्रेस वाली को—उसे,—हाँ, उस हसीना को।"

रामस्वामी साश्चर्य उसका मुँह देखता रह गया। इतना तो वह जरूर भाँप सका, कि मंत्री महोदय का मन आज कुछ खोया-सा है!...

वर्ग चल रहे थे। आंजनेय एक बार इर्द-गिर्द घूम आया; और, जहाँ हसीना बैठी थी, जाने क्यों, वहाँ कुछ क्षण खड़ा रह गया।...तुरत जैसे विषैले बर्रने उसे डंक मार दिया हो: वहाँ से भाग खड़ा हुआ—'क्यों, क्या जरूरत थी मेरी वहाँ?... वर्ग की अध्यापिका ने क्या सोचा होगा?'...

लड़कियाँ दौड़ लगा रही थीं। जाने क्यों, आंजनेय सोचने लगा—'हसीना जीत जाए!'...दूसरे ही क्षण उसे कुछ याद हो आया; और, उसने अपने को डाँट दिया—'क्यों,—यह तरफदारी क्यों?...कोई जीते—सब तो आश्रम ही की हैं!'...

सबोंने आज विशेष रूप से फूल लगाए थे। आंजनेय के

मन में हठात् हुआ—'हसीना गुलाब का फूल लगाती, तो कितनी अच्छी लगती !'···फिर जैसे कोई चुपचाप पूछ बैठे—'यह 'मेक-अप' की निगाह क्यों उस गरीब लड़की के ऊपर ?'

अचानक आंजनेय अपने ऊपर झल्ला उठा—'सच, मैं क्यों ऐसी वाहियात बातें सोचा करता हूँ !'···

दूसरे दिन आफिस आते ही, उसने एक आर्डर निकाल दिया—'कोई लड़की बेजरूरत आफिस में न आया करे।'··· लेकिन उसके दूसरे ही दिन, अपनी मेज को खाली देखकर, वह गुस्से से भर गया—'इतनी लड़कियाँ आश्रम में हैं, और कोई मेज भी साफ नहीं कर देती है !'···

एक घंटे के बाद, बिना बुलाए ही, हसीना कुछ फूल लिए आई; और, बगैर किसी की ओर देखे, आंजनेय की मेज पर सजा कर उसी तरह चली गई।

यह आर्डर के विरुद्ध काम हुआ, पर उस ओर हाकिम का ध्यान नहीं गया। जैसे हसीना सब नियमों से परे हो !···

आंजनेय चौंका—'यह सब क्या हो रहा है ? मेरे मन का जहरीला साँप क्या फिर सिर उठाने लगा है !···नहीं, मैं सारी ताकत लगाकर कुचल दूँगा उसे।'···

दो तीन दिन वह कहीं गायब रहा—आश्रम में नहीं आया। साक्षरता-प्रचार के केन्द्रों में दूर गाँव-गाँव घूमता रहा; और, गर्मी की छुट्टी में कहाँ-कहाँ वर्ग चलाने होंगे, उनकी व्यवस्था करके,

कई दिन पर, लौटा। आते ही अपने कार्य-क्रम के बारे में सबों-से बातें शुरू कर दीं; और, आश्चर्य—सब जगह हसीना को मौजूद पाया!···वह उसे अपने सामने से हटा न सका; क्योंकि हसीना ही तो उस कार्य-क्रम की प्रधान नायिका थी। उससे जी-भर बातें करके जब आंजनेय उठा, तब चौंक पड़ा—'उसीसे इतनी देर तक मैं क्यों बोलता रहा?'···

यों, अपने रसीले-हठीले मन से, वह घायल सिपाही खूब संघर्ष करता रहा। डाँट देने से, कुछ क्षण, उसका मचलता मन शान्त हो जाता था जरूर; पर, जरा भी असावधान हुआ, कि फिर वह उसी रास्ते पर खड़ा पाया जाता!···मनु-पुत्र वह देखता, और चौंक जाता; जी-भर कर आत्म-ताड़ना करता; लेकिन फायदा अधिक नहीं होता। कभी किसी की चौकड़ी मन में याद हो आती, कभी किसी की हँसी आँखों में कौंध जाती, कभी किसी की उड़ती चादर हवा में लहराने लगती; तो कभी कोयल-सी सुरीली आवाज मंत्री जी के कानों में भर जाती—

अपने से हारकर वह कहता—'आश्रम में यह राग-रंग नहीं चल सकता। मैं इसे लक्ष्मी के पास पहुँचाए देता हूँ।···जाए; वहीं रहे—मेरी आँखों में न पड़े—हर्गिज न पड़े!'···

अपने संकल्प को, दिन भर, कई बार दुहराता रहा। लेकिन, शाम होते ही, कोई अन्तराल से आहिस्ते कह उठा—'मूर्ख, देखने में क्या हर्ज? सौन्दर्य तो दर्शनीय होता ही है!'···

यों संकल्प-विकल्प का भीषण युद्ध चलता रहा उस दुर्बल

मनुष्य के मन में। और, हर वार उसका हठीला मन, भुलावे में डालकर, उससे मनमाना खेल कराता रहा। बन्दर के इस नीच नाच पर वह स्वयं क्षुब्ध हो उठा !···

आश्रम में वार्षिक स्पर्धा शुरू हुई। हसीना को हराना किसी के लिए सम्भव नही था। सब विषयो में उसका नाम आगे आया। लेकिन जब श्लोक-पाठ का समय हुआ, तब उसकी नानी मर गई। उसके उच्चारण पर हँसी की बौछारें होने लगीं। जानें क्यों, आंजनेय को संस्कृत-अध्यापिका पर बेहद गुस्सा हो आया—'पढ़ाया ठीक से नहीं !' आंजनेय अपने-आप पर बौखला उठा—'क्यों मैं याद करता हूँ उसे ?···क्या मैं इतना गया-गुजरा हो गया हूँ ?'

हसीना की पैनी दृष्टि में आंजनेय की यह दुस्थिति छिपी न न थी। उस बेचारे पर उसे हँसी और दया—दोनो आई—"कैसे भोले हैं यह !···कैसे बचाऊँ इन्हें इस सुलगती आग से ?··· आश्रम छोड़ दूँ ?···दीदी के पास चली जाऊँ ?···हाँ, रक्षा का सिर्फ एक वही उपाय है। दूसरा कोई चारा नहीं !···लेकिन मैं उनकी नजरों में पड़ती ही क्यों हूँ ? क्यो जाती हूँ उनके आफिस में ?···नही जाऊँगी—नहीं जाऊँगी !!"···

हसीना आज सारा दिन नर्सिंग-होम में बन्द रही—बाहर नहीं निकली। आफिस में बैठे आंजनेय का ध्यान बार-बार उचक जाता—'अरे, अभी तक वह गुलदस्ता क्यो न दे गई ?'···

फिर झट उसने उस तुच्छ विचार-तुरंग की लगाम खींच ली; और कोड़े मार कर ठंढा कर दिया; और, फिर अत्यन्त कड़ाई से अपने काम में लग गया।···'जाने दो उसे चूल्हे-भाड़ में; मैं क्यों उसे देखने जाऊँ ?'···कुछ क्षण अच्छी तरह भुलावे में बीत गए। हठात् सिर उठा कर वह दरवाजे से दूर देखने लगा; और, कुर्सी छोड़कर आफिस के बाहर निकल गया।··· और, चलता-चलता सीधे वार्डन से पूछ बैठा—"हसीना कहाँ है ?"

वार्डन अकचका उठी; और, भन-भनाती भागी—'क्यों, बात क्या है ? हसीना तो बीमारों की तीमारदारी में लगी है।··· मंत्रीजी क्यों चिन्तित भाव से खोज रहे हैं उसे ?'···

आंजनेय सीधे 'नर्सिंग होम' में चला गया; और, बीमारों को देखता-सुनता हसीना से बेजरूरत बातें करने लग गया। हसीना संकोच में पड़ गई; और, शीघ्रता से उठकर रसोई-घर में चली गई।···आजनेय वहाँ भी पहुँच गया; और, साग-सब्ज़ी के बारे में फिजूल के प्रश्न करने लगा।···हसीना वहाँ से भी भागी; और, सीधे बाथ-रूप में बंद हो गई !···तब जाकर आंजनेय की बन्द आँखें खुलीं; और, वह अस्त-व्यस्त होता, आश्रम से निकल गया—'अरे रे, यह मैं यह क्या कर रहा हूँ ?···मालूम होता है, कोई 'माया' मुझे नचा रही है !···भंग तो नहीं खा गया हूँ ?··· देखने वाले क्या सोचते होंगे ?···कहीं लक्ष्मी के कानों में कोई भनक पहुँची, तो ?···नहीं, अब मैं आश्रम में नहीं

रहूँगा। बम्बई चला जाता हूँ; कुछ दिन दूर रहकर, अपने मन को परखूँगा—उसको मनाऊँगा।...नहीं मानेगा, तो वहीं से त्याग-पत्र दे दूँगा; और, फिर कभी आश्रम में पैर नहीं रखूँगा...'

कई सप्ताह तक, किसी ने, आंजनेय को आश्रम में नही देखा। वह बम्बई से फिर कलकत्ता चला गया। आफिस को इसकी सूचना मिली।

इधर आंजनेय के जाते ही, आश्रम की चंचल हरिनी उदास होने लगी। किसी काम में अब उसका वह उत्साह नहीं रह गया। अब अधिकतर समय उसका बागवानी में बीतने लगा। बीमार की सेवा-सुश्रूषा से भी वह अब जी चुराने लगी। बड़ी अनिच्छा से गायों के पास चली जाती थी। लोग यदि पूछते—'हसीना, बीमार हो क्या?'—तो वह अनमनी-सी सिर हिलाकर रह जाती थी। अकसर, बाग के किसी सघन कुंज में बैठकर वह कुछ पढ़ती, या गुन-गुनाती देखी जाती थी।

एक दिन 'रत्ना' उसे ढूँढ़ती उस केतकी-कुंज में पहुँच गई; और, दूर से देखती क्या है—कि हसीना एक किताब खोले, भरे-स्वर से, गुनगुना रही है—

'वैभव को पनिहारिन आई द्वारे अमृत पिलाने,
रूठी, दुःखित गई, देव! तुम थे मुझ पर दीवाने;

> आज शूल की वीर-सेज पर, सोचा, काटूँ रातें,
> वह आई आशा की डोरी लेकर करने घातें ;
> बँध मत जाना मेरे जीवन, वलि हो-झाँकी झाँकूँ !
> चले चूरकर मनसूबे, अब किन चरणों को ताकूँ ?'

दबे पाँव रत्ना उसके पास पहुँची; और, सहसा पीठ पीछे से दोनों हाथों उसकी आँखें बन्द करके बोली—"कौन है वह भाग्यशाली 'देव'—जिसने ऐसा जादू डाल दिया है तुम पर, सखी ?"

हसीना हिली-डुली नहीं—केवल अगम्य भाव से उसका मुँह देखती रह गई। उसके निरुत्तर रह जाने में, एक सरल विस्मय उसके अन्तरतम से उद्भूत हुआ; और, धीरे-धीरे वह चतुर्दिक फैल गया। हसीना निश्चय न कर सकी—कि इसका क्या उत्तर वह दे।

रत्ना ने उसे अपनी बगल में खींच लिया; और, बड़ी सहानुभूति से पूछ बैठी—"यों क्यों देखती हो, बहन !···बता दो न मर्म-व्यथा—किसे चाहती हो ?"

हसीना ने हँसकर मृदुल ध्वनि में कहा—"जो मुझे चाहता है, सखी—उसे ?"

रत्ना—"क्या मंत्री···"

हसीना ने सहसा उसके मुँह पर हाथ रख दिया—"चुप, चुप;—कोई सुन लेगा !···रत्ना, तुम्हें मेरे सर की कसम—किसी से कहना नहीं;···मैं आश्रम छोड़ रही हूँ।"

रत्ना हसीना से लिपट गई; और, अचरज से बोली—"कहाँ जाओगी, बहन ?"

हसीना अत्यन्त उदासीनता से बोली—"भगवान् जहाँ ले जाएगा, सखी···यह आश्रम अब मुझे काटता है,···जो मुझपर सौ जान से फिदा था, जाने अब वह कहाँ की खाक छान रहा है !·· सखी, उसके वनवास का कारण मैं हूँ। मैं कैसे उसे पकड़ूँ—वह आकाश में उड़ रहा है; और, मैं पर-कटे पक्षी की तरह, धूल में लोट रही हूँ !···सखी, अभिमान से भर कर चला गया है मेरा वह प्रियतम ! मैं उससे आँखें चुराती थी।···आज ये निर्मम नयन निर्झर बन रहे हैं उसके लिए !"···

सहसा—'मंत्रीजी आए ! मंत्रीजी आए !'—कहती लड़कियाँ उधर-इधर दौड़ने लगीं। हसीना के कानों में भी वह कोलाहल-ध्वनि पड़ी; पर, वह जड़वत् बैठी रह गई।

रत्ना विस्मय से बोली—"सुनती नहीं, सखी—वह किलकारी ?···चलो न, जिसके लिए मरी जा रही थी, वह जंगल-पहाड़ लाँघता आ गया तुम्हारे पास; और, तुम यों निश्चल बैठी हो— उस ओर से कान बहरे करके !"

हसीना ने गंभीरतासे कहा—"यह आश्रम है, रत्ना; इसके पवित्र आँगन में यह पगली लीला चल नहीं सकती। इसलिए न मैं उनके सामने जाऊँगी, न आश्रम में ही रहूँगी। जी-जान की बाजी लगाकर भी मैं आश्रम की पवित्रता सुरक्षित रखूँगी।"

रत्ना प्यार से गले में हाथ डालकर बोली—"कहाँ जाओगी,

बहन ?···जाने कहाँ-कहाँ से भटकती-भटकती, तो यहाँ आई थी। फिर यहाँ से कहाँ जाओगी ? आचार्याजी के घर क्यों नहीं चली जाती हो ?···वहाँ सब तरह से सुरक्षित रहोगी।"

हसीना दूर पर दृष्टि डाले हँस उठी—"और उस पागल को, मोमबत्ती की तरह पिघल कर, मिट जाने दूँ ?···देखती नहीं, कहाँ-कहाँ से भटक कर आ गया है फिर इस आग में जलने!··· दीपक की लौ की तरह, एक तो अभागिनी मैं खुद जल रही हूँ; और, निष्ठुरता से उसे भी जलाए जा रही हूँ !···फिर कैसे कहती हो बहन, कि 'दीदी के यहाँ चली जाओ ?'···देखो—वह खुद आ रहा है इधर—मुझे ढूँढ़ता हुआ !···हाय, इस लौ में गिरे बगैर नहीं मानेगा वह अभागा !···छिः ! मैं आत्म-हत्या कर लूँगी, रत्ना !···कहाँ भाग जाऊँ ?···कैसे इस कुंज में निश्चल हो—यों पगल की तरह किसी की कोई परवा न करके बैठी रहूँ; जब कि वह ढूँढ़ता आ रहा है इधर ?"···

"हसीना, क्या करती हो यहाँ ?···देखो, मैं कितनी चीजें लाया हूँ बम्बई से ! चलकर सम्हालो न उन्हें···रत्ना, तुम जाओ;···मैं इसे साथ ले आता हूँ।"

रत्ना झटपट भाग खड़ी हुई वहाँ से।

हसीना—"मेरी तबीयत ठीक नहीं है। कृपाकर आप मुझे दीदी के यहाँ पहुँचा दीजिए; बहुत शुक्रगुजार हूँगी।"

आंजनेय ने अकचका कर पूछा—"आज ही जाओगी ?"

हसीना मुँह लटकाए गम्भीरता से बोली—"हाँ, आज ही—अभी।"

"अच्छा",···कुछ अन्यमनस्क होता आंजनेय बोला—"चलो चलो।"

विना किसी भूमिका के दोनो तैयार हो गए। हसीना ने मन-ही-मन आश्रम को प्रणाम किया; दौड़कर सब सखियों से मिल आई। अध्यापिकाओं को श्रद्धा-पूर्वक नमस्ते किया! लपक कर गायों को देख आई।···आश्रम की सभी चीजें मूक भाव से पूछने लगीं—'कहाँ जा रही हो हमारी आँखों की पुतली, हसीना? क्या फिर लौटोगी नहीं?···फिर हमें प्यार कौन करेगा?'···

गाएँ जोर-जोर से रँभाने लग गईं—जैसे वे रो रही हों!

छल-छल नयनों से देखते, दोनों अभागे, अपने प्राण-प्रिय आश्रम से निकल गए!

रास्ते में···

"हसीना!"

"हाँ, कह दीजिए न—जो कहना चाहते हों।" हसीना अचंचल स्वर में बोली—"चुप क्यों है?"

आंजनेय मौन हो जाता है।

"तो मैं ही कह दूँ?···आप अन्दर ही अन्दर जले जा रहे

हैं।...ठीक है न ?...फिर दीदी के पास क्यों जाते हैं ?...चल दीजिए वहाँ—जहाँ हमें कोई पहचान न सके !"

"नहीं, चोरी से हम नहीं भागेंगे।"...झेंप के साथ वह बोला—"लक्ष्मी के चरण पकड़, उसका आशीर्वाद लेकर, हम एक-दूसरे का हाथ पकड़ेंगे।...देखो तो—मेरा शरीर कुछ गर्म है क्या ?"

हसीना ने आंजनेय के माथे पर हाथ रखकर देखा; और, चौंक कर बोली—"ठहरिए, मैं अंचल भिगो लाती हूँ। आपके माथे पर पट्टी रख दूँगी—बुखार बहुत तेज मालूम होता है।"

आंजनेय चुप रह गया। सच, बुखार की ज्वाला से वह जल रहा था। वह निर्जन पथ के पार्श्व में लेट गया। हसीना कहीं से आँचल भिगो लाई; और, अपनी गोद में उसका सिर रख कर, माथे पर शीतल पट्टी देने लगी। आंजनेय आँखें बन्द किए निश्चल पड़ा रहा।...सहसा उठकर उसने हसीना के दोनों हाथ पकड़ लिए—"हसीना, जल रहा हूँ !"

हसीना कुछ कंटकित होती बोली—"यों नहीं, पहले चलकर दीदी से आशीर्वाद तो लीजिए। फिर किसी 'समाज' में जाकर हम एक-दूसरे को वर-माला पहना देंगे।"...

संकोच में समाते हुए आंजनेय को हसीना की इस दृढ़ता से बड़ी खुशी हुई—"आखिर लक्ष्मी की ही तो शिष्या है न !" फिर उसने अपने मन को फटकारा—'मैं भी तो उसी की छाया में पला हूँ; पर, हूँ कैसा क्षुद्र-धी !'

दोनों सकपकाए-से लक्ष्मी के पास पहुँचे :

लक्ष्मी अचानक चौंक उठी; और, दोनों को देखती तथा गंभीर होती बोली—"कुछ-कुछ समझती हूँ;···फिर भी खुल कर कह दो न, हसीना।"

"भीख माँगने आई हूँ, दीदी।" दीन भाव से वह बोली।

"आंजनेय को चाहती हो?" आँखो में तीव्रता भर कर उसने पूछा—"कह दो न।"

हसीना सिर झुका कर चुप रह गई।

सहसा लक्ष्मी ने वक्र दृष्टि से आंजनेय की ओर देखा—

"क्या—आंजनेय, फिर वही पुराना पागलपन शुरू हो गया तुम्हारा?"

आंजनेय ने हाथ जोड़ कर कातर कण्ठ से कहा—"यह धुलिन की पुकार है, देवी!···संग्राम में हारकर ही हम तुम्हारे पास आए हैं!···हम दोनों अनाथ हैं, सामाजिकता से एकदम शून्य हैं। दुनिया में हमारा कहीं कोई नहीं है। बेपतवार की नाव की तरह झंझा के झकोरो में घूम रहे हैं।···दोनों अभागे एक-दूसरे को चाहते है। मैं इसके लिए जल रहा हूँ, और यह मेरे लिए मर रही है!···शादी करके हम दोनों सुख-शान्ति से रहेंगे।···आशीर्वाद दो, दयामयी!"

लक्ष्मी एकाएक दयार्द्र होकर बोली—"आशीर्वाद तो दूँगी जरूर—पर, यह तो कहो—आश्रम की अब क्या हालत होगी? ···तुम दोनों उसके दो नेत्र थे।···और, आश्रम में रहकर तो

यह शादी हो नहीं सकती !"···

आश्चर्य ! लक्ष्मी का द्रवित स्वर सुनते ही आंजनेय के हृदय में एक विचित्र प्रतिक्रिया करवटें लेने लगी। वह गौर से लक्ष्मी के मुख की ओर देखने और उसे पहचानने का प्रयत्न करने लगा—'ऐं;···क्या यह लक्ष्मी बोल रही है ?'···

हसीना ने आतुरता के साथ लक्ष्मी के पैर पकड़ लिए—"दीदी, आश्रम के लिए बहुत लोग हैं; पर, हमारे लिए हम सिर्फ दो ही हैं !···जब तट पुकारता है, दीदी,—तब क्या लहरें रुकी रह सकती हैं ?···क्या दौड़ कर उन्हें आना नहीं होता है !···दीदी, जीवन की माँग सब से बड़ी होती है। हम दूर···दूर जाकर, एक सद्गृहस्थ का जीवन बिताएँगे—जहाँ हमें कोई पहचानता न हो।"

लक्ष्मी कड़वाहट से मुसकुराकर बोली—"मैंने उसी समय, तुम्हें देखते ही, समझ लिया था—यह आग भड़के बिना नहीं रहेगी !"

फिर वह मौन खड़े आंजनेय की ओर मर्माहत दृष्टि से देखती कह उठी—"इसी को 'प्रकृति-भेद' कहते हैं, आंजनेय !···पुरुष सहज ही चंचल होता है। परिस्थिति उसे झट परवश कर देती है; और, वह तूफान में पड़े तुच्छ तिनके की तरह, उड़ने लग जाता है !···परन्तु नारी—सुसंस्कृत नारी तो स्वभाव से ही संयत होती है—यह यों एकाएक अंधी नहीं हो जाती !"···

उसने हसीना की ओर अति तिक्त और तीक्ष्ण दृष्टि से

देखा—"हसीना, तुम से तो ऐसी आशंका मुझे नहीं थी। तुमने इस आग में अपने को क्यों डाला ?...तुम अनाथा थीं; आश्रम ने तुम्हें शरण दी थी; और, तुम उसकी पीठ में छुरी भोंक कर उसका सर्वस्व छीने चली जा रही हो !...क्या भारत की नारी परिस्थिति का भेद नहीं समझ सकती है ? तुम दोनों के यों निकल जाने से 'आश्रम' की क्या दशा होगी, सो तो सोचो। समाज की दृष्टि में इसका गौरव कितना बिखर जाएगा ?...अब कौन समझदार, हम पर विश्वास करके, यहाँ अपनी इज्जत-आबरू खोने आएगी ? क्या यह परिस्थिति-भेद तुम पर कोई अंकुश नहीं डाल रहा है—तुम से कुछ पूछ नहीं रहा है ?...मैं अंधे आंजनेय से नहीं; पर, बड़ी-बड़ी आँखों वाली तुम से, इसका जवाब चाहती हूँ; और, नारी के नाते अपील भी करती हूँ। कहो—तुमने अपना सहज संयत स्वभाव क्यों भुला दिया, होशियार हसीना ?...कैसे गहराई से जाने-पहचाने बगैर अपने को एक चंचल पुरुष के हाथ में सौंप दिया ?"

यह सुनकर आंजनेय ने आश्वस्त होकर सुख की साँस ली—'हाँ, यह तो लक्ष्मी ही बोल रही है—प्रकृत नारी !'...पुरुष तो वह था ही, और, उसकी दुर्बलता का शिकार भी वह था; अतः लक्ष्मी की प्रतारणा का कोई विशेष प्रभाव उस पर नहीं पड़ा। हाँ, हसीना की कातरता उसे अवश्य अच्छी नहीं लग रही थी—यद्यपि वह उसी का अनुकरण कर रही थी। अपनी इस प्रतिक्रिया पर उसे खुद अचरज हो रहा था—'हसीना मेरा ही तो काम

कर रही है, फिर उसके प्रति मेरा वह सम्मान-भाव क्यों खिसकता जा रहा है ?'

हसीना एकदम छुई-मुई-सी संकुचित होकर बोली—"दीदी, दयामयी दीदी, सचमुच मैं बड़ी अभागिनी लड़की हूँ, नमकहराम हूँ, पापिनी हूँ। जिस पत्ते पर खाया, उसी में छेद किया ! छाए-घर पर चिनगारी डाली, आस्तीन की साँपिन बन गई ! जिस विश्वास के साथ तुमने मुझे अपनाया, जिस करुण दृष्टि से मुझे देखा, उदारता की जैसी वर्षा मुझ पर की—आज मैं उसके लायक नहीं रह गई हूँ। सच, मैं तुम्हारे सामने खड़ी भी नहीं हो सकती !"...

आजिजी से उसके पैरों के पास बैठ गई—"लेकिन—दीदी, आज मैं बदनसीब ही नहीं, बदफेल ही नहीं—अपने से हारी हुई भी हूँ ! जिस आत्म-विश्वास के बल पर, आज तक मैं अपनी मुसीबतों से झगड़ती आई थी, आज मेरी वही लाठी टूट-सी गई है। इसी से आई हूँ ममतामयी माता की उदार गोद में शीतल होने। नारी की इस अधोगति पर, हमदर्दी के साथ, और कौन आँसू बहा सकती है, दीदी ?..."

सहमी-सकुची हसीना की झुकी आँखों से अविरल जलधारा बही जा रही थी; पर, अन्दर में हवा पाने से, जैसे बैलून फूलता जाता है, धीरे-धीरे, वह भी तनने लगी :

"दीदी, तुमसे मैंने बहुत कुछ सीखा है। यहीं आकर मैं नारी का गौरव समझ सकी हूँ। 'आश्रम' मेरी दूसरी माता

है—उसकी गोद में मेरा नया जन्म हुआ है। उसकी महिमा मैं कैसे भूल सकती हूँ?···परन्तु आज मैं अपने-आप से हार गई हूँ। फिर 'आश्रम' की महिमा की रक्षा कैसे कर सकती हूँ? एकदम मूढ़ हो गई हूँ—कोई शैतानी शक्ति मेरी नस-नस में घुसकर मुझे सारी दुनिया से अंधी और वहरी वनाए जा रही है।···खून के इस उवाल को, मैं अव भी दवा सकती हूँ; क्योंकि मैं भारत की नारी हूँ; और हूँ तुम्हारी शिष्या, पर—"

रुककर वह आंजनेय की ओर कनखियों से देखती हुई कहने लगी—"इन्हें कैसे सम्हालूँ—जो जिन्न की तरह मेरे पीछे पढ़ गए हैं; और, जिन्हें देखते ही मेरे मजबूत तन-मन के सारे सह-जोर बन्धन, जादूगर के हाथ के फन्दे की तरह, अपने-आप खुल जाते हैं—और मैं लुटी-सी—खोई-सी जान पड़ने लगती हूँ! मेरे रोएँ-रोएँ, इन्हें वगैर देखे ही, पहचान जाते हैं—जैसे ये मेरे लिए ही सिरजे गए हों, दीदी!"

लक्ष्मी यह सुनकर मन ही मन एक विचित्र मुसकान से भर गई—कालेज के आँगन में कभी उसने भी किसी से कुछ ऐसी ही वातें कही थीं; और, आज उसी पुरुष के सम्वन्ध मे, एक दूसरी नारी, यों प्रलाप कर रही थी!···हाय री, दुर्बल जाति—कितनी भोली, कितनी भावुक और कैसी नासमझ!!···

सहसा उसकी दृष्टि आंजनेय की ओर चली गई, और, उसकी अद्भुत प्रतिक्रिया को वह ध्यान से पढ़ने लगी। परन्तु हजार सिर मारने पर भी वह उसकी गहराई तक नहीं पहुँच

सकी—'एं, क्या सोच रहा है यह आवाराहाल ?'···

एकाएक हसीना लक्ष्मी के कुछ पास खिसक आई; और, चरण छूती, आरजू-मिन्नत की दबी-आवाज में, कहने लगी :

"दीदी, तुम कुछ गुन-धुन रही हो; शायद—मेरे ऊपर तरस खा रही हो, या मुझसे नफरत होती जा रही है तुम्हें···पर एक बात कहने की इजाजत दो, तो मेरा दिल हलका हो जाए। फिर तुम जो हुकुम दोगी, उसे मैं सिर-आँखों बजा लाऊँगी।"

लालटेन की बत्ती को उकसाती, और, खिड़की की राह गहरे अंधकार में झिल-मिलाते तारों को देखती, लक्ष्मी को हसीना का वह मृदुल मनुहार बड़ा भला मालूम हुआ। उसे और पास खींचकर लक्ष्मी बोली :

"इतनी तकल्लुफ क्यों करती हो, हसीना ? कुछ-कुछ समझती हूँ, फिर भी जो कुछ पूछना हो, निधड़क पूछ लो न।"

हसीना—"खूब समझती हूँ···" रुककर वह आंजनेय की ओर गूढ़ गम्भीर नयनों से देखती कहने लगी—"यह धूमकेतु हैं जरूर; पर, मैं भी तो उनसे कुछ कम नहीं हूँ। फिर इन्हें ही दोष क्यों दूँ—इन्हे ही बुरा-भला क्यों कहा जाए?···ताली दोनों हाथों से बजती है न, दीदी। नारी अगर स्थिर रहे हो, तो कौन नर उसे डिगा सकता है?···दीदी! तुम से ही सुना था—क्या दस-सिर और बीस-भुजा वाला रावण, अपने गढ़ में बन्द करके भी, अकेली सीता को डिगा सका था?···और, उदार दीदी, एक रोज तुम्हीं ने एक अनोखी बात हमें बताई थी। उस वक्त

तो मैं उसे ठीक-ठीक नहीं समझ सकी थी, पर आज उस 'धर्म' को दिल के भीतर से पहचान पाती हूँ।···तुमने उस समय कहा था—'आत्मा की आवाज सबसे ऊँची होती है; उसकी महिमा अपार है। दुनिया के सभी कायदे-कानून उसके सामने ढीले पड़ जाते हैं—एकदम नाचीज हो जाते हैं, दूसरे सभी धर्म-कर्म हवा में उड़ जाते हैं!'···हम अभागे की आत्मा, रहम-दिल दीदी—आज हमें साफ कह रही है—'वासना की आग में जलने वालों को, नापाक तन और मन के साथ, इस पवित्र 'आश्रम' की सेवा करने का ढोंग फौरन से पेश्तर छोड़ देना चाहिए; और, विशाल समाज को सम्हालने-सिखाने के बजाय, अपनी जलन मिटाने के लिए, कहीं किसी अन्धे कोने में जाकर चुपचाप मुँह छिपा लेना चाहिए।'···

हसीना दोनों हाथों से अपना मुँह ढाँप लेती है; और, उसाँसें लेने लग जाती है :

"मेहरवान दीदी, हम वही अध-जले भगोड़े हैं; और, आए हैं तुमसे दया और दुआ की भीख माँगने—जिससे दो कमबख्तों की जिन्दगी में कुछ राहत मिले।···कहो—देती हो यह भीख इन पगलों को?···"

फिर वह लक्ष्मी का पैर पकड़ लेती है—"दीदी, सोए में कोई भले ही मेरा गला रेत दे; पर, मैं जिसे अपना 'मालिक' मान चुकी हूँ, उसके प्रति अविश्वासी नहीं हो सकती—यह मेरी वालिदा की दिन-रात की सीख है।···दीदी, उसने आखिरी साँस

लेते-लेते मुझे अपनी जिल्लतों की बड़ी ही पुर-दर्द कहानी सुनाई थी—आह कैसी-कैसी आफतों के बीच वह अपनी असमत पर कायम रह सकी थी !...” हसीना गर्व से गद्‌गद हो जाती है—“मैं उसी की बेटी हूँ, दीदी ! टूट जाऊँगी; पर, झुकूँगी नहीं—चाहे सारा जहान मेरे खिलाफ क्यों न खड़ा हो जाए !...”

लक्ष्मी की दृष्टि हसीना की ओर थी, बातें भी वह उसी से कर रही थी, लेकिन उसकी दिलचस्पी उस मौन पुरुष की ओर थी—जिसके हृदय की थाह वह इस समय नहीं पा रही थी।... अतः न चाहते हुए भी उसके कुतूहलपूर्ण नेत्र बार-बार उसकी ओर दौड़ जाते थे।...लेकिन जवाब तो देना था उसे हसीना को—जिसका हृदय उसके सामने निर्मल दर्पण-सा अत्यन्त स्पष्ट था। और, स्पष्टता में कोई विशेष आकर्षण नहीं रह जाता है—यह भी कलात्मक सत्य है। परन्तु, परिस्थिति कह रही थी—‘हसीना की बातों का जवाब चाहिए ही।’ अतः लक्ष्मी कुछ कहने जा ही रही थी, कि आंजनेय बोल उठा—“कुछ मुझे भी कहने दो न, हसीना—केवल तुम्हीं कहती चली जा रही हो !...नहीं जानती हो कि मेरा दम कैसा घुट रहा है !...”

हसीना शिथिल होती, उपेक्षा के स्वर में, बोली—“पकड़ी तो गई हूँ मैं—कैफियत तो माँगी गई है मुझसे !—पूरी कर लेने दीजिए न मुझे अपनी बात...”

बगैर देखे ही लक्ष्मी ने कह दिया—“तुमसे मैं कुछ नहीं पूछती, आंजनेय !” कह तो गई वह बड़ी गंभीरता से, पर सत्य

के अपलाप पर उसे खुद संकोच हो आया; क्योंकि सुनना तो वह चाहती ही थी उसी की बात !

आंजनेय लक्ष्मी की उपेक्षा से जरा भी आहत न हुआ; और, सहज स्वर में बोला—"पर मुझे तो बहुत-कुछ कहना है तुमसे।"

कुछ नकली लापरवाही से लक्ष्मी ने कहा—"तुम पुरुष हो; और, पुरुष पर···"

आंजनेय ने शीघ्रता से उसका वाक्य पूरा कर दिया—"तुम विश्वास नहीं करती—है न ?···परन्तु, पुरुष को तुमने मेरी ही असम-तुला पर तौला है, देवी !···किन्तु, सच तो यह है, कि मनु का यह पुत्र मनन-शील प्राणी है। वह खदकती हाँड़ी का चावल तो है नहीं, कि एक को टोकर, तुम सारी हाँड़ी का पता पा जाओ !···मैं अपवाद हो सकता हूँ; पर, हमारे सामने ही रामस्वामी भी तो है—क्यों न कोई उँगली उठाता है उस-पर ?···"

सिर नीचा करके आंजनेय टूटे स्वर में बोला—"और, मेरे अभाग्य का पता क्या तुम्हें नहीं है, देवी ?···पग-पग पर जो ठोकरें खा रहा हूँ, इसका कारण क्या तुमसे छिपा हुआ है, लक्ष्मी ?·· पूछ लो न इसी दीप-शिखा से—कैसी यातना झेली हैं मैंने इस लौ से बचने के लिए !···हसीना, तुम कुछ कहती क्यों नहीं ?···लक्ष्मी, मैं मनन-शील प्राणी हूँ—मुझमें विवेक है, पौरुष है, संकल्प है; पर, कोई श्रद्धामयी नारी मेरी मार्ग-दर्शिका नहीं है।···शैशवावस्था से ही स्नेहाधिक्य ने मुझे कुछ स्वेच्छा-

चारी बना रखा है; और, इसी से आज मैं 'अपवाद' बन गया हूँ।" परन्तु वह 'अपवाद' अब भी लौट सकता है अपनी जगह पर—यदि तुम उसकी लगाम मजबूती से पकड़ लो।"

एक शान्त संकल्प-शुद्ध मुखड़ा चमक उठा लक्ष्मी के समाने।

लक्ष्मी को आंजनेय के हृदय की थाह कुछ मिली—इससे उसे संतोष तो हुआ; पर, उसने उसे ऊपरी सतह पर फैलने वाला निस्सार फेन ही समझा। पुरुष के प्रति उसके मन में जो एक सहज उपेक्षा जम गई थी, उसमें जरा भी कमी नहीं हुई। सोचा—'यों ही मुझे खुश करने के लिए बोल रहा है!" क्या अपना रवैया यह कभी बदल सकता है?"' फिर हसीना की लौ उसकी आँखों में चमक उठी; और, वह उसकी ओर देखती आंजनेय से कहने लगी—"और, इस सर्वस्व-हारी, तीर-खाई, लुटी-लटी हरिनी का क्या होगा?" मैं इसकी ज्वाला को पहचानती हूँ—क्योंकि मैं भी नारी हूँ। इसकी दीन-दुनिया बिगड़ चुकी है—कहीं कोई आधार इसके वास्ते नहीं रह गया है; और—यह यों जल रही है जवानी के अभिशाप की अनोखी आग में—जिसकी लौ उसी से उठती है; और, फिर उसी को भस्म कर देती है!" इसे किसके हाथ में सौंपा जाए?" तुमने तो इसे कुछ दूसरी ही दृष्टि से देखा है; पर, इसने तुम्हें 'देवता' मानकर अपने को सर्वतोभावेन उत्सर्ग कर दिया है!"' आंजनेय, मेरी पूर्व धारणाओं में भी अब बहुत-कुछ परिवर्तन हो गया है। मैं मानने लगी हूँ, कि सम-असम 'युग्म' में ही 'प्रेम' पनप सकता है""

हसीना को उसने गौर से देखा, और, फिर आंजनेय से कहा—"बौद्धिकता में तुम इससे बड़े होने का गर्व कर सकते हो, तो स्थिर स्निग्धता में यह तुमसे कहीं ऊँची दीखती है: तुम चंचल प्रवाह हो, तो यह अचल गिरि-राजि है: तुम तूफान हो, तो यह मलय-समीरण है!···तुम दोनों के चले जाने से किसकी क्या क्षति होगी, विचार-विश्लेषण का अब समय नहीं रहा। अब तो 'पुलिन की पुकार' पर ध्यान देना ही पड़ेगा।···मैं आत्मा की पुजारिन हूँ, आंजनेय—उसकी आवाज को ही सब से बड़ा 'धर्म' मानती आई हूँ। इसलिए मैं तुम दोनों को जाने से रोक नहीं सकती!···जाओ, हसीना—अपने उद्धार-कर्ता के साथ शौक से जाओ···तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो!"

अपने औदार्य के गर्व से वह गद्‌गद हो गई।

आंजनेय अपने उपेक्षा-भाव को दबाकर, कुछ विनोद-वृत्ति से लक्ष्मी की ओर देखता, कह उठा—"तुम तो न्यायाधीश के उच्च पद से खिसककर, फीस पर काला चोगा हिलाने वाले वाचाल वकील की तरह, बहस करने लग गई हो!···तो फिर मेरी भी कुछ सुन लो···"

सहसा वह गम्भीर हो गया; और, चिन्तन की उच्च चोटी पर खड़ा होकर बोलने लगा—"देवी, व्यक्तिगत 'धर्म', या 'आत्मा की आवाज'—तभी सबसे बड़ी मानी जाएगी, जब विशाल 'सामाजिक धर्म' से उसका कोई विरोध न होता हो।···और, जब विरोध का वह द्वन्द्वात्मक संकट उपस्थित हो जाता है, तब

उसकी कसौटी बनती है त्याग और तपस्या की ताकत—भोग और विलास की ओर लुढ़कने वाली तुच्छ पलायन-वृत्ति नहीं! लक्ष्मी, 'आत्मा की आवाज' के लिए जब कोई व्यक्ति कड़े-से-कड़े कष्ट-सहन के पथ पर, साहस के साथ चलता है, तभी उसका वह 'गर्व' सार्थक और सराहनीय होता है—अन्यथा उसे 'आत्म-प्रवंचना' ही समझना चाहिए।"...

कहकर वह अट्टहास कर उठा..."हः-हः! वकील साहबा, तुम तो हमें कायरता के गहन गड्ढे में ढकेल देना चाहती हो!"... सहसा उसकी हँसी रुक गई; और, वह सात्विक सुस्थिरता से बोला—"...देवी, देखो—हम दोनों ने 'आश्रम' की सेवा का व्रत लिया था; हम उसमें तेजी से आगे भी बढ़ते जा रहे थे; समाज की दृष्टि हम पर गड़ी हुई थी; दुःख-दर्द में हजारों आदमियों के लिए हम आधार हो जाते थे!...अब अगर इस विस्तृत 'सेवा-धर्म' को छोड़कर, हम तुच्छ वासना के स्रोत में फिसलते पाए जाएँ; और, तुम, हमारी चोटी पकड़कर खींचने के बदले, अगर हमें और भी गहराई में धकेल दो—तो, देवी, यह कार्य तुम्हारे गौरव के अनुकूल कदापि न होगा!...और..."

हँसकर वह हसीना से कहने लगा है—"जिसे तुम अपना 'देवता' कहती हो, हसीना—दरअसल वह 'राहु' और 'धूमकेतु' ही है! उस शैतान के ऊपर न्योछावर होने की यह उतावली तुम्हारे खानदानी फख्र को हर्गिज नहीं बढ़ाएगी!...यह 'जीवन की माँग' नहीं, जवानी की उकसाहट और उसी की खुराफात

है, सुकुमारी! विदुषी और कुन्दन बनी दृढ़-आत्मा लक्ष्मी से तो हमें कुछ दूसरा ही सबक लेना है, हसीना!"...

लक्ष्मी चौंकी; और, चेतना की चुलबुलाहट पर मन्त्र-मुग्ध-सी रह गई। उसकी आँखें डब-डबा आईं। श्रद्धा-विगलित स्वर में वह कहने लगी:

"बहस में मैं कभी तुम से हार नहीं सकी थी, आंजनेय; लेकिन, आज तो तुमने अपनी विमल वाणी से मेरे नेत्रों में एक अपूर्व ज्योति ही भर दी! इच्छा होती है—तुम्हारे चरणों में झुक जाऊँ।...सचमुच, आंजनेय! मैं सत्याभास के स्रोत में अन्धी बनी बही जा रही थी! तुमने बड़ी सावधानी से मुझे सचेत और सचेष्ट कर दिया—सत्य का सर्वांगीण दर्शन करा मुझे कृतार्थ बना दिया!...मेरी जो चिर-कामना रहती आई थी, जिस सुधा की-आशा बचपन से मै करती आ रही थी, आज उसके एक घूँट में ही तुमने मुझे चिर-तृप्त कर दिया!...मेरी उमड़ती कृतज्ञता स्वीकार करो, आंजनेय।...सचमुच तुम 'देवता' हो!"

हसीना हक्की-बक्की हो गई—उसे अपने आँख-कान पर विश्वास नहीं हो रहा था। दिग्-भ्रमित-सी वह बोल उठी—"और मैं क्या कहूँ—नहीं जानती। देवता, मेरी दुर्बलता भूल जाना। जो भी हो, तुम मेरे मालिक ही रहोगे। जो हुकुम दोगे, शौक से-सर-आँखों पर चढ़ाऊँगी!"

आंजनेय उठा; और, हठात् लक्ष्मी का चरण छूकर बोला: "फिर तुम गलती करती हो, देवी—मेरी झूठी तारीफ करके मुझे

मिथ्या-गर्व के घोड़े पर चढ़ाती हो !···मेरा असली रूप तो वही है, जिस पर तुमने चाँटा-चप्पल चलाया था !···तर्क में जीतने ही से तो मैं तुमसे बड़ा नहीं बन जाऊँगा।···लक्ष्मी, ज्ञान की कसौटी है आदमी का आचरण। उच्च विचार के साथ अगर उन्नत आचार का योग न हुआ, तो वह ज्ञान मादक-द्रव्य की तरह त्यांज्य है—हास्यास्पद और अस्पृश्य भी है।···चाँटा चलाकर तुमने मुझे जो पाठ पढ़ाया था, देखो न—कितनी जल्दी मैं उसे भूल गया !···"

आंजनेय ग्लानि से जैसे अपने में डूबा जा रहा था ! आँखें घुमाकर उसने फिर हसीना को देखा; और, बोला—"और··· हे देववाले ! संयम और सेवा के पथ पर चलाकर पहले तुम मुझे अपने 'योग्य' तो बन जाने दो। जिस दिन, गुलाब के फूल की तरह, मैं तुम्हें शीतल नयनों से देख सकूँगा; उसी दिन मैं अपने ऊपर कुछ गर्व कर सकूँगा। अभी तो मुझ गिरे-हुए अधम को, जरा सहारा देकर, धर्म-पथ पर खड़ा कर देना ही सब से बड़ा 'धर्म' है तुम दोनों देवियों का—और मेरी यही आन्तरिक याचना भी है।···मुझ अधम को पकड़ कर डूब जाने में तो तुम्हारी शोभा नहीं, भावना-कुमारी···"

लक्ष्मी अपने हर्ष के धरातल पर नाम मात्र का रोष फैलाती बोली—"यो औरतों के आगे मुँहताजी करते-फिरने में भी तो पुरुषों की शोभा नहीं दीखती है !···आंजनेय, तुम तन कर अपनी ज्ञान-भूमि पर क्यों न खड़े हो जाते हो ?—और अपने पुरुषार्थ

से जगत् को एक बार क्यों न चौंका देते हो?—यों औरतों का दामन पकड़ कर कब तक खड़े होते रहोगे, मनु के पुत्र?...”

कहकर वह चिंतन की चपल धारा में उतराने लग गई; —“और, यह भी तो तुम्हें मानना पड़ेगा, आंजनेय!—कि चिरन्तन काल से विचार ही आचार को जन्म देता आया है। जब तक उच्च विचार समाज में तरंगित नहीं होते, जब तक उनका व्यापक प्रचार-प्रसार नहीं होता, कोई अमल आचार आएगा कहाँ से?.. देखते नहीं, विचार के प्रचार से ही फ्रांस में, रूस मे, चीन मे, और भारत में ऐसी क्रान्ति हुई, कि समाज का, धर्म का और शासन का ढाँचा ही बदल गया?... दूर क्यों जाओ; अपना ही उदाहरण लो न...अगर तुमने आज यह उच्च विचार हमें न दिया होता, उँगली डालकर हमारी आँखे न खोली होतीं, तो हमारे सामाजिक ‘धर्म’ की कैसी छीछा-लेदर हो गई होती आज?...मुझे तुम्हारे विचारों पर उचित गर्व है। विचारो के समुचित अनुशीलन से हम आचारवान् भी हो जाएँगे—यह विश्वास मुझे बलिष्ठ बनाता है।”

लक्ष्मी के निश्छल कथन से आंजनेय कृतार्थ-सा होता जान पड़ा—“इसी स्नेह-सिक्त सबल सहारे के अभाव मे तो आज तक मैं झंझा में झूलता आया था।.. सच पूछो, तो नारी के सहारे ही पुरातन काल से पुरुप अपना पौरुप दिखाता आया है। तुम्हीं कहो न—माँ, पत्नी, बहन, या दुलारी बेटी को छोड़ कर—पुरुप का सच्चा सहारा कौन होता है, लक्ष्मी—इस सहानुभूति-शून्य

संसार में ?"

लक्ष्मी हठात् ठठाकर हँस पड़ी—"वाक-चतुर पुरुष यही सब कहकर तो भोली नारी को अपनी मुट्ठी में कर लेता है !··· जो भी कहो; मुझे अपनी विवेक-बुद्धि पर कुछ अकुण्ठित गर्व रहता आया था; तुमने उसे आज चूर-चूर कर दिया—अपनी हिमालय-सी उच्चता दिखाकर !···तुम्हारे सामने मैं कितनी तुच्छ हूँ—सोचकर गड़-सी जाती हूँ ! लेकिन मेरा अन्तःकरण मंगल-कामनाओं से उमड़ता आ रहा है—तुम्हारा यह उच्च विचार सदा स्थिर रहे !···हाँ, हसीना···"

सहसा रामस्वामी घबराया हुआ-सा वहाँ आ खड़ा हुआ; और, सबों को देखकर, स्तब्ध-सा रह गया—मुँह की बात मुँह में ही रह गई।

लक्ष्मी ने प्रसन्नता बिखेरती पूछा—"कुछ चिन्तित दीख रहे हो, भाई !"

रामस्वामी, हसीना और आंजनेय की ओर शंकित दृष्टि से देखता, धीरे-धीरे बोला :

"हाँ, आश्रम में कुछ हलचल-सी मची हुई थी। सब लोग शंका, उत्सुकता और व्याकुलता से हसीना को ढूँढ़ रहे थे।··· उधर 'आश्रम' में पुलिस के आने की भी सूचना मिली है। अस्पताल में, पैर काटने के समय, डाक्टरों के सामने गोपाल ने कई गुण्डों के नाम पुलिस को बता दिए हैं। पैर कट जाने के

कारण, सहसा उसमें काया-कल्प-सा हो गया; और, उसने अपने सारे अपराध स्वीकार कर लिए !···सुना जाता है —बचने की आशा बहुत कम है !"

लक्ष्मी का मुख मलिन पड़ गया। आंजनेय भी आकुल हो उठा; और, हसीना हक्की-बक्की-सी देखती रह गई।

कुछ क्षण मौन रहकर लक्ष्मी बोली :

"मामला संगीन मालूम होता है। पुलिस कहीं लड़कियों को तंग न करे। पिताजी से सलाह लेकर हम सब को सतर्क हो जाना चाहिए ! गोपाल बच जाए; और, उसे अपनी करनी पर सच्चा अनुताप हो, तो शायद 'आश्रम' पर कोई आफत न आए।"

रामस्वामी ने निश्चिन्त होकर कहा—"पुलिस की कोई चिन्ता हमें नहीं है। आस-पास से कई गाँवों के लोग उमड़-उमड़ कर हमारी खोज-खबर लेने आ रहे हैं। चाहने पर भी पुलिस हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगी।···हाँ, समारोह समीप आ रहा है—शायद उसमें कुछ बाधा पहुँचे। नाटक की तैयारी अभी तक नहीं हो सकी है।···लोगों की राय है, कि नायिका का पार्ट आप को ही लेना चाहिए।"

लक्ष्मी ने सुचिन्तित भाव से कहा—"नहीं, नायिका हसीना ही बनेगी, और, मैं 'माँ' का पार्ट ले लूँगी। नायक होगा नाटक-कार।—आंजनेय, पार्ट लिखकर दे दिया है न···?"

आंजनेय ने शर्म से सिर झुका लिया—"लिखा तो नहीं गया है अब तक; पर, वचन देता हूँ—कल ही काम पूरा हो जाएगा

रिहर्सल का।'' 'हाँ, नायक का पार्ट भाई रामस्वामी को दिया जाए, तो अच्छा हो।"

रामस्वामी ने अविचल दृढ़ता से कहा—"नहीं, मुझ पर व्यवस्था का ही भार रहे—अभिनय की योग्यता मुझ में कतई नहीं है।"

उसके कथन में सत्य की जो चुभीली नग्नता थी—सब को अप्रतिभ बना गई।

लक्ष्मी—"रामस्वामी, आज से हसीना यहीं, मेरे पास, रहेगी—निजी सचिव की हैसियत से। इसका सामान वगैरह भेजवा देना यहाँ।"

रामस्वामी और आंजनेय दोनों हलके हो गए—जैसे अँधेरे में दीखने वाला डरावना साँप, सूखी रस्सी में, बदल गया हो।

ऋतु परिवर्तन

शरत-कालीन सुहावना समय उपस्थित हुआ। शस्य-श्यामला प्रकृति-सुन्दरी, ऋषि-तुल्य अपने अमानी पुत्रों को, सुभाशामय आशीर्वाद देने आ गई। उनकी सेवा, भक्ति, श्रद्धा और श्रम का उपहार लिए, परिवर्तनशील प्राणियों के प्राण-विनिमय में, 'भावों' का परिवर्तन-परिवर्द्धन करती हुई, वह अपने अनिल-विकंपित श्यामल अंचल को, दिग्-दिगन्त में फहराकर, नाच उठी।

जल में कालिमा, थल में हरीतिमा, और नभ में नीलिमा गहरी हो चली थीं; लेकिन, रंगों की विभिन्नता में भी दृश्य की एकता का राज्य था—सर्वत्र रुचिर स्वच्छता-ही-स्वच्छता दृष्टि-गोचर हो रही थी।

उषा देवी को भागती हुई देखकर सरस्वती ने कल-कल करती पिनाकिनी में किलोलें करना छोड़ दिया। चंचल सरिता की शोभा निरखती, उसने भींगे कपड़े निचोड़ डाले। फिर पानी भरकर उसने पीतल की चमचमाती गगरी अपनी लचीली कमर पर रखी, और, गजेन्द्र-गमन को भी मात करती, अपनी शिथिल करधनी तथा तरल अंचल को सम्हालती, घर की ओर चल पड़ी। उसकी अलस गति, प्रसन्न प्रकृति, उसके सुभग अंग-प्रत्यंग वनवासी मुनियों का भी ध्यान आकृष्ट करने लगे। नदी

और वधू को देखकर, किसी समय, आदि-कवि वाल्मीकि की कल्पना भी, इसी भाँति, कलकल कर उठी थी :

'मीनोपसन्दर्शित मेखलानां,
नदी-वधूना गतयोऽद्य मन्दाः ।
कान्तोपभुक्तालस गामिनीनां,
प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम् ।'

सरस्वती ने तुलसी-चबूतरे पर भरी-गगरी रख दी । उसका लाड़ला रामू दौड़कर आया; और, आर्द्र-वसना माता से लिपट गया । लेकिन कपड़े की तरलता ने चुलबुल बालक को हठात चौंका दिया । झट अलग होकर, वह माँ की ओर, टेढ़ी नजर से देखने लगा । माता ने झुककर उसका भोला मुख चूम लिया । उसी समय घर से आँखें मलते सुब्रह्मण्यम् उठा । रामू दौड़कर बाप से लिपट गया । बाप ने भी गोद में उठा कर उसे बार-बार चूमा ।

रामू ने मचल कर कहा—"बाबू दी, लानी-अम्मा के घल न तलोगे ?"

पिता की प्रसन्न मुखाकृति, सहसा, संकुचित हो गई ।

सरस्वती अपने तरल केश-कलाप को झाड़ती बोली—"क्या कहता है ?"

सुब्रह्मण्यम् ने संकोच से कहा—"कहता है—रानी-अम्मा के घर न चलोगे ?"

सरस्वती बिन्दी लगाती सोत्साह बोली—"ठीक तो कहता

है, जाते क्यों नहीं ? ''रानी-अम्मा कहाँ हैं, बाबू ?"

रामू ने उँगली से बताया—"उधल। मैं यॉ नईं लऊँगा। मुधे ले तलो लानी-अम्मा के पाछ। ओई मेली अम्मा अय।"

रामू बाप की धोती खींचता जोरों से मचलने लगा। सरस्वती ने आकर गोद मे उठा लिया। माता की गोद में भी वह छट-पटाने लगा—"तू मेली अम्मा नई। मेली अम्मा उधल अय। मैं वई दाऊँगा।"

सुब्रह्मण्यम् रामू को पुचकाकर बोला—"अच्छा—बाबू, हम कल वहाँ चलेंगे। आज तमाशा नहीं देखोगे ? आओ—पटाखा छोड़ो।"

रामू सब कुछ भूलकर पटाखा छोड़ने लग गया !

सरस्वती—"इसे उनकी याद क्यों आती है ? कभी देखा भी तो नहीं उन्हें; फिर भी, रट लगाए रहता है !"

सुब्रह्मण्यम् ने धीरे से कहा—"अम्मा ने सिखा दिया होगा।"

अम्मा का नाम सुनते ही रामू अपनी दादी के पास दौड़ गया।

सरस्वती—"अम्मा तो दिन-रात उन्हीं की चर्चा करती रहती है; हरदम उन्हीं की चिन्ता में घुली जाती हैं : मुझसे कहती रहती हैं—'तूने ही उसके मुख का ग्रास छीन लिया है ! तूने ही उसे तपस्विनी बना दिया है। वह देवी थी, घर की लक्ष्मी

थी।'···भला तुम्हीं कहो, मेरा क्या दोष है इसमें ? रोते-रोते उनकी आँखें बुझती जाती हैं !···आज मैंने उन से कहा—'अम्मा, आज लक्ष्मी पूजन है, जरा तैल-स्नान करा देती हूँ।'—तब वह कहने लगीं—'लक्ष्मी तो लांछिता हो गई, अब पूजा किसकी ?' ऐसा अनुराग तो कहीं सुना भी नहीं जाता है ?"

सुब्रह्मण्यम्, मर्माहत-सा गरदन लटकाए, चुपचाप सुनता रहा।

सरस्वती—"मेरी समझ में नहीं आता, कि मैं कैसे उन्हें धीरज दूँ ? कहो—मैंने ही तुम्हारा ब्याह कराया था ?—सच, दूसरा ब्याह करके तुमने सब पर भारी अन्याय और अत्याचार कर दिया है—सोच-सोच कर मैं सिहर उठती हूँ !"

सुब्रह्मण्यम् शून्य भाव से उसका मुँह देखता रह गया।

सरस्वती बड़े दर्पण के सामने खड़ी होकर सूखी गमछी से लपेट कर बालों को बाँधती बोली—"उनकी बड़ाई सुन-सुनकर मेरा जी उछला करता है, कि कैसे उनका दर्शन करूँ ?···तुम उन्हें क्यों न ले आते हो ? कई बार कहा, कि 'जाओ, उन्हें ले आओ। छोटी बहन की तरह मैं उनकी सेवा करूँगी।' लेकिन तुम तो सुनते ही नहीं !"

सुब्रह्मण्यम् कुछ उदासी से बोला—"जब तक न आई है, तभी तक यह उमङ्ग ! आने पर वही पुरानी 'सौतिया डाह', और रात-दिन का कलह-कोलाहल !"

सरस्वती की पतली भौंहें सहसा टेढ़ी हो गईं—"यह तुम

लोगों का स्वभाव है; एक को छोड़ कर दूसरी को ले आए !···मैं न रहूँगी, किसी और को ले आओगे !···पहले यह सब नहीं समझती थी, अब खूब समझती हूँ। उनके साथ यह बड़ा अन्याय हुआ है !···आज रामू न होता, तो मै भी उन्हीं की तरह अपमानित होकर वन-वासिनी बना दी गई होती !···सुनती हूँ—कभी तुम उनके गुलाम बने हुए थे; देव-मूर्ति के समान उन्हें पूजते थे।···और, आज उनकी याद भी तुम्हें नहीं आती है !"···

अन्दर जाती हुई उसने सुब्रह्मण्यम् की ओर तिरछी निगाह से देखा; और, उसने अपनी मुसकान में व्यंग्य मिला दिया—"क्या विश्वास वासना के विलासी पुरुष समाज का ? भूखा-प्यासा बनकर वह कहीं भी लोट-पोट हो सकता है—किसी के सामने दुम हिला सकता है !"

सुब्रह्मण्यम् सोचने लग गया—"तो क्या तुम निरपराधिनी हो ?···शैलजा तो यही लिखती है।···तो क्या वह सब गोपाल की चाल थी—सिर्फ अपने स्वार्थ-साधन के लिए उस चालाक ने तुम्हारी ऐसी दुर्गति करा दी ?···रामू रोता है, तुम्हारे लिए मचलता है। सरस्वती तुम्हारी सौत होगी, वह भी मुझे फटकारती है। तुम्हारे लिए अम्मा की आँखें सूजती रहती है।···अड़ोसी-पड़ोसी भी मुझे फटकारते हैं ?···हाय, मैं अपनी सगी बहन और देश-नायक बहनोई का वैरी हो गया हूँ। उस

विद्वान् और धन-सम्पन्न कुटुम्ब से मेरा नाता टूट गया! और, उसका वह सौन्दर्य, उसका वह संगीत, और उसका वह गो-दोहन—अब भी मूर्ति धारण करके मेरे आगे नाचते रहते हैं।... हाय रे, तो क्या सच ही वह 'असती' न थी?...मरते-मरते वह अभागा गोपाल भी तो यही कह गया है!...अगर यही सच है, तब...तब मेरे पापों का प्रायश्चित् क्या होगा?"...

इतने में कहीं से रामू दौड़ आया और बाप से लिपट गया—"बाबूदी, छुलछुली दो—छुलछुली! छब लोग छुलछुली छोलने अयँ।"

सुब्रह्मण्यम् की विचार-धारा विच्छिन्न हो गई। वह रामू के बाल-कौतुक में ऐसा उलझ गया, कि धीरे-धीरे कुछ देर के लिए आगे-पीछे सब-कुछ भूल गया।

"अम्मा, आलमारी धो दूँ?"

कमर से अंचल कसे, एक हाथ में पानी का बर्तन और दूसरे में चिथड़े का पोतन लिए, धूल-धूसरिता सरस्वती ने बूढ़ी सास से पूछा—"बहुत गन्दी हो गई है!"

"धोने की जरूरत नहीं, सिर्फ कपड़े से झाड़-पोंछ दो।"

चर्खा का कातना छोड़कर बूढ़ी ने दीवार पर नजर दौड़ाई: "उसकी तसवीरों को नहीं देखोगी? झोल-झक्कड़ से भरी मालूम होती हैं।"

"रामू के डर से उन तसवीरों को नहीं उतारती हूँ, अम्मा!"

···आलमारी को साफ करती हुई उसने जवाब दिया—"कहीं फोड़-फाड़ न दे। मुझे तो इन सब चीजों को छूने में भी संकोच होता है—कितने जतन से सजाया होगा उन्होंने।"

तब तक उसकी नजर एक तसवीर पर जा पड़ी।

"अम्मा, उनकी तसवीर में भी धूल-झोल भर गए हैं।"··· दीवार पर से लक्ष्मी के विवाह की तसवीर को उतारती वह आह्लादित हो गई—"आह, इन्हें कब देखूँगी ?"

सरस्वती के दमकते मुख पर विकलता दौड़ गई। वह कुछ ऐंठी-जूठी, जैसे उसका कलेजा कसक रहा हो। तसवीर को खोलकर उसने बड़े प्रेम से पहले चित्र की ओर देखा, फिर, धीरे-धीरे अपने अंचल से उसे साफ करने लगी ··मानों किसी सजीव मूर्ति की सेवा कर रही हो। फिर गुन-गुनाकर उस चित्र से बातें करने लगी—"बहन, मेरी आराध्या बहन, क्या मेरे ऊपर नाराज हो ?—लोग कहते हैं, तुम मेरी सौत हो; और, 'सौतिया डाह' दुनिया में प्रसिद्ध है !···लेकिन कौन जानता है, मैं तुम्हारी कितनी पूजा करती हूँ ! क्या मैं कभी अपने मनोभावों को प्रत्यक्ष कर सकूँगी ?···बहन, तुम रूठो नहीं; आओ,—एक बार मेरी परीक्षा कर लो। देखना—फिर मैं तुम्हारी चेरी बनती हूँ, या नहीं !···बेटा तो तुम्हारा है ही। देखो न, वह किस तरह तुम्हारी रट लगाए रहता है।···ओह, कैसा सुन्दर मुख है, कैसी मधुर चितवन है, कैसा अद्भुत भाव है—सारे अंगों से जैसे प्रेम बरस रहा हो !"

तसवीर को उठाकर पहले उसने उसे चूम लिया, फिर सिर आँखों से लगाया; और, कई मिनट तक आँखें मूँदे उसे छाती से लगाए रही। उसकी आँखें छल-छला आई थीं। चित्र से वह कुछ स्पष्ट कहना चाहती थी, लेकिन गद्-गद् हो जाने के कारण, केवल खाँसकर रह गई। कुछ देर सन्नाटा रहा। बुढ़िया भी कुछ न बोली, उसका चरखा भी चुप था; और, वह चरखे पर झुकी सूतों को सुलझा रही थी।

तसवीर पर टपके अश्रु-कणों को अंचल-छोर से पोंछती सरस्वती ने सास की ओर देखा—"अम्मा !"

बुढ़िया कुछ चौंकी; और, बिना बोले ही चरखा चलाने लगी।

सरस्वती ने वहीं से देखा—बूढ़ी के पोपले गालों पर भी आँसू फैल रहे थे। सरस्वती फिर चित्रपट को निहारने लगी। उसी समय दौड़ता हुआ रामू आया; और, तसवीर को गौर से देखकर बोला—"यई तो अय मेली लानी-अम्मा।"

उसका हाथ तसवीर पर पहुँच गया था—"लूँ··गा—अम्मा !··दो-ो-ो ! -·· ऊँ !!"

"बाबू ! मुन्ना ! लल्लू !"—चुचकार और चुमकारकर माता बोली—"फूट जाएगी, बाबू ! जरा ठहरो, फ्रेम कस दूँ।"

सरस्वती शीघ्रता से 'ग्रिक' ठोंकने लगी।

"अम्मा, मैं लानी-अम्मा के पाछ दाऊँगा।"

"अच्छा, जाना।"

"कौन ले दायगा ?"

"बाबूजी ।"

"कैछे दाऊँगा ?"

"रेलगाड़ी पर,—अभी जाकर खेलो ।"

"अम्मा, पताका लूँगा ।"

"बाबूजी से माँग लो !"—कहकर वह चित्रपट में उसके बाबूजी को देखने लगी। देखते-देखते उसका मुख-मंडल अनुराग से भर आया। बच्चे को गोद में बिठाकर, फोटो दिखाती वह बोली—"यह कौन है, रामू ?"

'बा-बू-दी।'—कुछ विलम्ब से बच्चे ने अपने बाप को पहचाना।

माँ ने बेटे को चूमा। लेकिन उसके मन में 'बाबूजी' की आवृत्ति तेजी से हो रही थी। सरस स्रोत में डूबकर वह कंटकित होने लगी। वह कभी चित्रपट को, कभी उस चंचल लड़के को देखती थी; और, न जाने उसके विचार-सागर में कैसी-कैसी तरंगें उठती थीं। धीरे-धीरे वह अचिंत्य जगत् में चली गई। ...उसकी आँखें खुली थीं, लेकिन वे इस जगती की चीजें न देखती थीं। उसके हाथ में तसवीर थी, लेकिन वह कब छूट गई, उसका पता उसे न चला! उसकी गोद मे बच्चा बैठा था, लेकिन वह तसवीर लेकर कब चम्पत हो गया—माँ को मालूम न हो सका! उसके अन्तर्जगत् में उस समय एक विचित्र अभिनय हो रहा था। अतः उसकी समस्त इन्द्रियाँ उसी रंग-शाला की दर्शिका

वनीं हुई थीं।

किशोरावस्था का पहला पर्दा उठा: कैसे-कैसे मधुर सपने देखे थे उसने, कितनी कोमल-कोमल कल्पनाएँ की थीं उसने! अपनी हृदय-वीणा पर कैसे-कैसे मधुर संगीत आलापे थे उसने!···वह परदा गिरा: इठलाते यौवन के दृश्य उपस्थित हुए। विवाह के दिन उसने विस्मय के साथ किसी से सुना— कि एक बूढ़ा आया है; और, उसके मङ्गल-मण्डप का शुभ संगीत वन्द करना चाहता है! एक अस्पष्ट भावना उसके मुख पर उदासी ले आई थी; लेकिन, उस समय भी उसका हृदय संवेदन से ही भरा हुआ था।···

ज्यों-त्यों कर वह ससुराल आई। उसकी यौवन-सरसी में हिलोरे उठीं। गोद में ललाम बच्चा आया। उस समय भी वह मानों वेगार ही ढो रही थी। उसने सास की वातें सुनीं; पड़ोसी-पुरजन की कटुक्तियाँ सुनीं; और, हहरते हृदय से सुनीं लांछिता लक्ष्मी की विपत्ति-गाथाएँ! तव भी वह अपने अस्तित्व और अधिकार को न समझ सकी। लक्ष्मी के प्रति उसकी गहरी सहानुभूति धीरे-धीरे दिव्य उदारता में वदलती चली। उसके अन्तराल में लक्ष्मी से मिलने की लालसा, उसके साहचर्य की कलक उसे प्रतिक्षण अस्थिर और अन्यमनस्क रखने लगी। इस तरह वह अन्तर्प्रकृति से छूटकर वहिर्प्रकृति की तुलना में तल्लीन हो रही थी, कि सास ने जोर से पुकारा—"सुनती नहीं हो;

पूनी दो—पूनी !"

चौंककर सरस्वती सचेत हो गई। उसकी विचार-शृंखला टूट गई। आँख खोल कर देखा—तसवीर नहीं थी वहाँ। घबड़ाकर वह उठी; और, रामू की खोज में दौड़ पड़ी।

सास साश्चर्य देखती रह गई।

आज पुण्य-तिथि दीपावली के पहले की त्रयोदशी है। घर-आँगन की सफाई-पुताई करवाकर दरवाजे के चौखटों को हल्दी के गाढ़े रंग से रँग दिया गया; और, सूख जाने पर उसमें सिन्दूर की सुभग रेखाएँ तथा बिन्दियाँ लगा दी गईं। बाहर-भीतर सर्वत्र कला-पूर्ण चौक पूर दिए गए। चाँदी, फूल, काँसे, पीतल, ताँबादि के छोटे-बड़े सभी पात्र, इमली से साफ करके, चमका दिए गए।

चतुर्दशी के प्रातः ही गाँव का नाई आया। अपना 'काम' करके रामू को तैल-स्नान कराने लगा। फिर सुब्रह्मण्यम् की बारी आई। सरस्वती ने तिपाई और मीठा तेल लाकर आँगन में रख दिया। नाई ने हथेली में तेल लेकर सुब्रह्मण्यम् के सिर में डाला; और, फिर उस पर थपकियाँ देने लगा। सरस्वती गर्दन टेढ़ी करके खड़ी-खड़ी तैल-मर्दन देखती रही। नाई के अनाड़ीपन से खीझकर उसने कहा—"तुम जाकर जरा दूकान से सौदा तो ले आओ, भाई।"

रुपए देकर उसने सौदा समझा दिया। अपनी अयोग्यता

का अन्दाजा लगाता नाई सौदा लाने चला गया।

अब मोदमयी सरस्वती की सुखद थपकियों में वाद्य-कौशल की तरल ताल-गति और उसके सुकुमार शरीर की लोल-लचक ध्यानस्थ-से सुब्रह्मण्यम् के स्नेह-सिक्त सिर में सरस गुदगुदी पैदा करने लगी। आधे घण्टे में सेर का चतुर्थांश तेल सिर में पचा-कर सरस्वती उसे स्नानागार में ले गई। 'बायलर' गरम था। टब में ठंढा जल भरा था। बीच में तिपाई पड़ी थी। ताखे पर साबुन, उड़द का आटा, रिट्ठी तथा अंगराग की अन्य सामग्रियाँ रखी थीं। सौभाग्यवती ने बड़े गगरे में गरम पानी निकाला, रिट्ठी में पानी डाला; और, तिपाई पर बिठाकर वह पतिदेव को नहलाने लगी। पहले थोड़ा गरम पानी डालकर बदन में उड़द का आटा लगा दिया, फिर मथी–हुई फेनिल रिट्ठी डालकर सिर को खूब मला। आखिर साबुन से सारा शरीर साफकर, उसके माथे पर, उष्णजल की झड़ी लगा दी।

अब उस पुरुष ने आँखें खोलीं; और, स्नानागार का किवाड़ लगाकर सरस्वती बाहर निकल आई। बड़ी देर तक सुब्रह्मण्यम् गरम पानी से नहाता रहा। तेल की चिकनाहट के साथ-साथ उसके शरीर की सारी थकावट भी दूर हो गई। नवीन ताजगी से भरकर वह बाथरूम से बाहर निकला।

आज सभी को नूतन वस्त्र धारण करना चाहिए, यह इस

समाज की प्रथा है। रेशमी साड़ी छोड़कर सरस्वती ने बम्बई की चमकीली खादी ही पसन्द की। रेशमी धोती पहनते हुए पुरुष ने मीठी हँसी से कहा—"तुम्हे भी लक्ष्मी का शौक हुआ है ?"···

लक्ष्मी की चर्चा पर वह खुद संकोच में पड़ गया। सरस्वती उसके भावों का परिवर्तन गौर से देख रही थी, इससे वह और सकपका गया।

"यह तो उनकी प्रसादी है !"

"दर्शन नहीं, पूजा नहीं, फिर प्रसादी कैसी ?"—किंचित मुसकुराकर वह कहने लगा—"उसका तो देश-सेवकों का घर है; और, तुम्हारा ?"

"स्वार्थ-साधकों का !"—बिना कुछ झिझके ही सरस्वती ने जवाब दे दिया। उसकी मुखाकृति विशेष गम्भीर थी। तानेबाज पुरुष चुप हो गया। वह अपने व्यंग्य का पूरा आनन्द भी नहीं पा सका था, कि सहसा फिर संकोच में पड़ गया !···

इधर सरस्वती तेजी से सोच रही थी। अपने कथन की सत्यता उसके हृदय पर आघात पहुँचाने लगी थी।···सच ही तो, उसके दुष्ट भाई ने लक्ष्मी के साथ कितना बड़ा जुल्म किया—सोचते ही अपने मृत भाई गोपाल के ऊपर उसे घोर घृणा हो आई। फिर अन्तर्मन ने प्रश्न किया—"भाई ने आखिर किसके लिए यह सब कुचक्र रचा था ?"···उत्तर सोचते हुए उसे आत्म-वेदना हुई। दर्द की टीस से उसका मुख कुछ उदास हो गया।

'आखिर किया तो था मेरे ही लिए !'—की आवृत्ति तेजी से उसके मन में होने लगी।

पराजित पुरुष चुपचाप उस निर्मला नारी को देख रहा था। प्रसंग बदलने के विचार से उसने पूछा—"बारह बज गए; और, वे लोग आए नहीं ?"

सरस्वती कुछ न बोली—मानों उसने कुछ सुना ही नहीं। सिर्फ शून्य दृष्टि से पुरुष की ओर देखती रही। उसकी भौंहों पर बल पड़ गए थे; और, नेत्र कुछ ढूँढ़ते थे।

पुरुष इस तलाशी से अस्थिर हो उठा।

"हाँ, यह मेरे ही योग्य हैं—उनके नहीं !···कहाँ उनकी वह गरिमा; और, कहाँ इनका यह भोलापन !"—सोचते-सोचते उसे भावावेश हो आया। सहसा वह उठी; और, पति के गले में हाथ डालकर, उसने अपने अधराधर मिला दिए—"मेरे ही प्रियतम !"···

पुरुष इसके लिए भी तैयार न था। एकाएक वह चौंक पड़ा। उस पर पत्नी की छलछलाई आँखों ने उसे और भी आश्चर्य में डाल दिया। वह इस 'त्रिया-चरित' को बिलकुल न समझ सका; और, सोचने लगा—"क्या यह पगली हो गई ?—अथवा कोई गहरी चोट लगी है ?"···

बार-बार मुग्ध चितवन डालकर, प्रसन्नता की मूर्ति सरस्वती अन्दर चली गई; और, वह हतबुद्धि पुरुष उसकी ओर मुँह बाए देखता खड़ा रहा !

"लानी अम्मा !"

तसवीर लिए लड़का दौड़ा आया; और, पिता को देखकर उछल पड़ा···"देको, बाबूदी ! य अय मेली लानी अम्मा !"

पुत्र की पुलक-प्रसन्नता ने पिता का विस्मय कुछ दूर कर दिया। मनहर बालक को गोद में उठाकर वह भी तसवीर को देखने लगा ! उसे ऐसा लगा, मानो वह पहली बार ही लक्ष्मी को देख रहा हो ! चित्र में दूल्हा बना वह कुर्सी पर बैठा था; और, बगल में, लक्ष्मी शान्त-भाव से खड़ी, अपने अनुपम सौन्दर्य तथा सौकुमार्य से, उसे आच्छादित कर रही थी। सुब्रह्मण्यम् अपनी नजर स्थिर नहीं रख सका—तसवीर की तीव्रता को भी वह बर्दाश्त न कर सका !

लेकिन लक्ष्मी की वह झाँकी उसके अन्तरतम में भयंकर उथल-पुथल मचा गई। एक-एक करके बहुत-सी भूली हुई बातें, चलचित्र की तरह, उसकी आँखों के सामने आने-जाने लगीं। विवाह के पहले की घटना, आंजनेय के साथ लक्ष्मी का पढ़ना-लिखना, उसकी मुग्धता, अनुपम सौन्दर्य, उसका वैभव और विलास—सब कुछ किस तरह उसे ईर्ष्यालु बनाते थे। और आंजनेय से वह कितना चिढ़ता था। लक्ष्मी का बर्ताव भी उसके प्रति कुछ रूखा ही रहता था। उस समय उसके साथ विवाह की कल्पना भी वह नहीं कर सकता था। और, जब वह अनहोनी हो गई, तब वह मूढ़ कैसा गौरवान्वित हुआ।···फिर भी वह अपना अधिकार नहीं जमा सका।···पहले वह सगर्व

अपने को वहाँ का उत्तराधिकारी समझता था। लेकिन जब लक्ष्मी के भाई-बहन पैदा हुए, तब तो वह पेड़ पर से गिर पड़ा। उसकी समस्त आशाओं पर भी पानी फिर गया।...तब से उसने वहाँ जाना-आना ही छोड़ दिया। किन्तु लक्ष्मी के द्विरागमन होते ही उसके भावों में कैसे-कैसे परिवर्तन शुरू हुए; और, उसका कैसा काया-पलट हो गया—सोचकर वह गड़-सा गया! लक्ष्मी तो उसकी पत्नी ही थी। वह तेजी से उसकी ओर दौड़ा। लेकिन, बीच में ही, ठोकर खाकर ऐसा गिरा, कि उसकी दुनिया ही बदल गई।...

इसके आगे की घटना याद करते उसे डर लगा। उसके रोंगटें खड़े हो गए। वह उन्हें भूल जाना चाहता था, लेकिन वे दुःखद दृश्य जबर्दस्ती आ-आकर उसके आगे नाचने लग जाते थे। वह घबरा गया। घृणा, क्रोध, ग्लानि आदि भाव बारी-बारी से आए; और, उसे क्षुब्ध बना गए।

उसने लड़के के हाथ से तसवीर छीनकर गुस्से से दूर फेंक दी—फोटो का शीशा चूर-चूर हो गया; लेकिन, तब भी चित्र का सौन्दर्य वैसा ही हँस रहा था! चंचल बालक रोने लगा। उसी समय सरस्वती घर से निकली; और, टूटी-फूटी उस तसवीर को देखकर आग हो गई। और बिना कुछ पूछे-ताछे ही, उसने लड़के के गाल में एक तमाचा लगा दिया। लड़का जोर-जोर से रोने लगा। क्षोभ से लाल और तमतमाई मुख वाली सरस्वती तसवीर को छाती से लगाकर, बिखरे शीशे के कण चुन ही रही

थी,—कि कुछ खीझ-भरे स्वर में सुब्रह्मण्यम् बोला :

"बेचारे बच्चे का क्या दोष था ?···तसवीर तो मैंने फोड़ी है !"

सरस्वती ने आश्चर्य और संकोच से पुरुष की ओर देखा; और, फिर बग़ैर कुछ बोले ही अपने काम में लग गई।

···सुब्रह्मण्यम् अपना गाल टोने लगा—जैसे वह चपत उसी पर पड़ी हो !

पाकशाला में, दीवार से सटाकर, दो-दो पीढ़े वाले तीन आसन लगे थे। एक पीढ़ा बैठने और दूसरा ओंगठने के लिए था। सन्ध्या-वन्दन के पात्रादि भी पीढ़े के पास ही रखे थे। दीवार में गड़ी खूँटियों पर पवित्र रेशमी कपड़े टँगे थे। रसोई-घर से व्यंजनों की मस्त खुशबू आ रही थी।···

ठीक बारह बजे निमन्त्रित दो तगड़े विभूति-भूषित विप्रवर पधारे। सरस्वती कमरे से निकली। उनके हाथ-पैर धोने के वास्ते गरम पानी ले आई; और, तौलिया लिए खड़ी रही। दोनों अतिथियों ने जाकर पीढ़ों पर आसन जमाया। सरस्वती गृह-देवता की पूजा में संलग्न हुई। सास की संरक्षता में उसने चन्दन-पुष्पादि से पूजा करके कर्पूर की आरती उतारी। नारिकेल-जल से अभिषेक किया। मिष्ट-नैवेद्य चढ़ाया, व्यंजनों का भोग लगाया। फिर अभ्यागतों के साथ सबों ने पुष्प-मन्त्र से शान्ति-दायी स्तुति-पाठ किया। प्रसाद पाने रामू भी आ गया। गरी-गुड़ का प्रसाद लेकर सब लोग आसन पर जा बैठे। उधर

परोसने की तैयारी होने लगी, इधर द्रविड़-प्राणायाम चलने लगा।

"मैं कआँ बैथूँ ?"—पीढ़ों को देख-भाल कर रामू बोला—
"मेला पीला कआँ, अम्मा ?"

पिता ने अपना पीठ वाला पीढ़ा बिछा दिया। लोगों की ओर नजरें घुमाकर रामू फिर बोला—"अम्मा, एक औल पीला।"···

सरस्वती पत्तल डालने आई।

"अम्मा! मुध को वला पत्ता !!"

"तुम थाली में खाओ, बाबू!"—सरस्वती ने चाँदी की थाली उसके आगे रख दी।

"नई, मैं पत्ते पल ई काऊँगा!"

माँ ने थाली हटाकर पत्ता बिछा दिया।

पत्ता देखकर वह फिर मचला—"अम्मा! बला पत्ता चाइए।"

बड़ा पत्ता पाने पर वह खुश हुआ; और, पिता से माँग कर उसपर पानी छिड़कने लगा।

आम के पल्लव से घी छुलाकर सरस्वती सब सामग्रियाँ पहले थोड़ी-थोड़ी परोस गई। सिर्फ भात की मात्रा कुछ अधिक थी। औपासन देकर पुण्य-संचय किया गया। तब कुछ झुककर, पंच-प्राणों को स्वाहा-मन्त्र से पुकार कर, बाएँ हाथ की कनिष्ठिका को पृथ्वी में सटाकर 'पंचकवल' की विधि समाप्त की गई। फिर

भोजन-भट्ट-गण, बड़ी बहादुरी से, भात के साथ भिड़ गए। क्रम-क्रम से चर्पर-चूर्ण, चटनी, तरकारी, अँचार, निमकी, दाल आदि के साथ, घी की सराबोर सरसता में, भात को उदरस्थ करके 'कढ़ी' और 'रसम्' को भी स्थान दिया गया।

यों बड़ों की पेट-पूजा चल रही थी, कि लड़का उठ खड़ा हुआ; लेकिन, जब माँ ने लड्डू का लोभ दिया, तो फिर बैठ गया। सरस्वती घी की झारी लिए खड़ी थी। खाने वाले जब कोई चीज भात के साथ मिलाते, तो सरस्वती घी की झारी उनकी अंजुली में उड़ेल देती थी। घी की यह बौछार लड्डू और माल-पूआ तक चलती रही। भोजन-प्रिय लोग दोने-के-दोने खीर साफ कर गए। आखिर दही-भात की बारी आई; और, यों व्रती-वीरों के हाथ-मुँह की लड़ाई खतम हुई। गहरी डकार लेकर उन धर्म-वितरक भूदेवों ने आचमन किया; और, धोती सम्हालते वे उठ खड़े हुए।

रजत-थाल में पान-सुपारी वगैरह रखकर रामू उठा लाया। पशु की तरह गाल भर-भर कर दोनों ने अस्पष्ट स्वर में लड़के को आशीर्वाद दिया; और, दक्षिणा लेकर, पेटों पर हाथ फेरते, घर की राह ली।

सद्गृहस्थ का सारा श्रम सफल हुआ।

"फुल-धलियाँ दो, अम्मा!"—लड़का माँ का अंचल खींचता मचल रहा था—"ऊँ···ऊँ···फुलधलियाँ लूँ···ऊँ···गा!"

"शाम को लेना।"

"नईं, अवी लूँगा।"

उसी समय एक लड़का पटाखे छोड़ता पास से निकल गया। रामू फुलझड़ियों की वात भूलकर पटाखों की रट लगाने लगा।

"पताका···अम्मा, पताका चाइए!"

पिता ने प्यार से उसे पटाखे छोड़ना सिखाया। रामू पटाखे पकड़ने के लिए उछलने लगा।

"बूट पहन लो, वावू!"

सरस्वती ने जवर्दस्ती पकड़कर उसे सूट-बूट में कस दिया। वालों में सुगन्धित तेल डाला; और, ललाट में कुंकुम-बिन्दी लगाकर आँगन में छोड़ दिया। पाँव पटकता हुआ रामू तेजी से दरवाजे पर निकल गया।···

"कहीं आँख-कान में न लग जाए!"—सरस्वती ने शंकित स्वर में कहा—"पटाखे क्यों दिए? छोड़ना तो उसे आता नहीं!"

सुब्रह्मण्यम् के कान खड़े हो गए। वह रामू की खोज में निकल पड़ा। देवालय के पिछवाड़े लड़कों की जमात जमा थी; और, कुछ ढीठ वच्चे पत्थरों पर पटाखे पटक रहे थे। रामू उस जमात में मिल गया। वाप ने वुलाने की वड़ी कोशिश की; पर, वह उस जमात से निकला नहीं। तव वड़े लड़कों को समझा-वुझाकर वह घर में लौट आया।

शरत् की सुहावनी सन्ध्या आई। घर-घर में आतिशवाजियाँ होने लगीं। लड़के-लड़कियाँ फुलझड़ियाँ ले-लेकर उछलने-

कूदने लगे।

'फुल-धलियाँ, अम्मा !'

सरस्वती ने फुलझड़ियों का एक डब्बा बच्चे के हाथ में रख दिया। उसको जलाने न आया, तब पिता ने अपने पास बिठाकर, रंग-बिरंगी रोशनी की लीला से, बच्चे को मुग्ध कर दिया। उसी समय लड़कों का एक झुंड सड़क पर आया और किलकारियों के साथ छुड़छुड़ी छोड़ने लगा।

रामू भी मचल उठा—"छुलछुली, बाबूदी—छुलछुली !"

"नहीं बाबू, हाथ जल जाएगा।"—पिता ने उसके पास फुलझड़ी जला दी। पहले तो रामू डरकर भागा; लेकिन, धीरे-धीरे निडर होकर खुद जलाने लगा।

गृह-देवता की आरती उतारकर सरस्वती ने तुलसी-पूजन किया। घी के दीए के पवित्र प्रकाश में उसका घर-आँगन आभामय हो उठा। उसी समय रामू फुलझड़ियाँ जलाता दौड़ा आया; और, माँ के मुख के पास ले जाकर बोला—"वागो··· वागो—दल दाओगी !"

माँ ने उसे गोद में उठाकर चूम लिया। लड़का टेढ़ी नजर से देखता अपने दल में भाग गया।

सरस्वती ने जाकर अन्य-मनस्क लेटे हुए सुब्रह्मण्यम् से

कहा—"उठो, लक्ष्मी-पूजन नहीं करोगे ?"

सुब्रह्मण्यम् के मन में सहसा 'लक्ष्मी' शब्द पर घृणा हो आई। किन्तु अपने भावों को दबाकर वह सरस्वती के साथ चल पड़ा।

"इसकी क्या जरूरत ?"—सुब्रह्मण्यम् ने वहाँ माला-मण्डित लक्ष्मी का चित्रपट देखते ही रुष्ट होकर कहा—"नहीं, इसे हटा दो।—पूजन के समय इसकी सूरत···"

उसकी बात सुनकर सरस्वती का प्रसन्न मुखड़ा सहसा लाल हो उठा। जीभ दाँतों तले आ गई। फोटो को सँभालती हुई वह बोली—"छिः ! ऐसा भी कोई कहता है ?···वास्तव में तुम कुछ नहीं समझते हो !···ऐसी दिव्य-देवी का ऐसा अपमान करते हो !!"

उसकी झल्लाई सूरत देखकर सुब्रह्मण्यम् संकोच में पड़ गया।

रामू गाँव की जमात में चला गया था। किसी ने उसके हाथ से फुलझड़ियों का डब्बा लेकर, अपनी छुड़छुड़ी पकड़ा दी। पहले तो उसने दृढ़ता से पकड़ा; पर, उसके झोंको को न सहकर, हाथ ढीला कर दिया।···छुड़छुड़ी उलटी; और, तीर की तरह बालक पर बरस पड़ी। घबड़ाकर छुड़छुड़ी लिए ही वह गिर पड़ा। उसको यों गिरते देख साथ के सब लड़के चुपचाप रफ़ूचक्कर हो गए।

देखते-देखते रामू के चुस्त कपड़ो मे आग भड़क उठी; और, —"बाप ले बाप !!"—चिल्लाता और छटपटाता वह धूल में लोट-पोट होने लगा।

उधर सरस्वती के साथ सुब्रह्मण्यम् देव-गृह में लक्ष्मी-पूजन कर रहा था; और, इधर सड़क पर तड़पता हुआ मोम-बत्ती-सा मुलायम रामू जलता-पिघलता दम तोड़ रहा था ।

होहल्ला सुनकर बूढ़ी गिरती-पड़ती दौड़ी आई; और, जलते रामू को, गोद में उठाकर, घर ले भागी।···क्षणान्तर में वह बौखलाई आग, उसकी साड़ी मे भी, लहलहा उठी !···

बूढ़ी चिल्ला रही थी—"दौड़ो, दौड़ो—सर्वनाश हुआ !"

देव-गृह से दोनों दंपती घबड़ाकर निकले; और, उस दहकते ज्वाला-जाल को देखकर जड़वत् खड़े रह गए।···आग उछलकर घर पर चढ़ना ही चाहती थी, कि बूढ़ी, रामू को लिए हुए, आँगन में गिर पड़ी; और, कराहने लग गई।···

सहसा भयावह दृश्य खड़ा हो गया। पति-पत्नी पर जैसे वज्र-पात ही हुआ। घबराई सरस्वती घड़ा लेकर पानी लाने दौड़ी। सुब्रह्मण्यम् दोनो हाथों से माँ-बेटे पर धूल झोंकने लगा। सरस्वती हाँफती हुई दो घड़े उठा लाई; और, दोनों पर उँड़ेलना ही चाहती थी, कि—'हाँ-हाँ—करते कई आदमी वहाँ आ खड़े हुए; और, धूल झोक-झोंककर आग बुझाने लगे।···

आग तो किसी प्रकार बुझ गई; पर, दोनों प्राणी ऐसे झुलसे कि उनके जीने की आशा न रही। पास-पड़ोस में कोई डाक्टर-वैद्य नहीं था। गाँव के लोग जमा हो गए थे। कोई कुछ कहता था, कोई कुछ।

उसी समय एक अजनबी आदमी दौड़ा गया; और, नाले से एक टोकड़ी स्वच्छ पाँका उठा लाया; और, केले के पत्ते बिछाकर दोनों को उसी में लपेट दिया।...

धीरे-धीरे अधजलों की आह-कराह कम होती चली; और, जलन शान्त होकर दोनों को नींद-सी आने लगी।

पास बैठी अश्रु-मुखी सरस्वती छाती पीट रही थी। सहमा-सूखा सुब्रह्मण्यम्, अगम्य-अवलोकन से, वह दयनीय दृश्य देख रहा था। रात गहरी होती सर्द पड़ती जा रही थी। उस नवागन्तुक को छोड़, धीरे-धीरे, सब लोग अपने-अपने घर चले गए। पास-पड़ोस के घर में आलोक झलमला रहे थे; पर, सुब्रह्मण्यम् का घर घोर-अन्धकार में डूबा चला जा रहा था।

नवागन्तुक ने धीरे से कहा—"मैं इलाज जानता हूँ; उपचार कर दिया है। उम्मीद है—दोनों चंगे हो जाएँगे।"

सुब्रह्मण्यम् ने गौर से देखा—यह तो आंजनेय की बोली जान पड़ती थी! पहचानकर वह हक्का-बक्का रह गया; लेकिन, उसके मुँह से स्वागत-सत्कार का एक शब्द न निकला।...पहली झोंक में तो उसने सोचा—'यह शैतान कहाँ से आया यहाँ?' किन्तु दूसरे ही क्षण याद हो आया—'अगर यह नहीं आया होता, तो

मेरे सर्वस्व को कौन बचाता ?—और, तब हमारी क्या हालत होती आज ?'

यह सोचते ही, कृतज्ञता से भरकर, वह उसके चरणों में झुक गया—"तुम देवदूत हो, आंजनेय !"

"चरणों में तो मुझे पड़ना चाहिए।"

ऐसा कहते-कहते सचमुच वह सुब्रह्मण्यम् के सामने दण्डवत् हो गया।

"तुम तो मेरे लिए वरदान लेकर आए हो, आंजनेय। मेरी उजड़ती जाती दुनिया को फिर से बसा दो, भाई ! हम जन्म-जन्म तक तुम्हारे गुण गाते रहेंगे।"—सुब्रह्मण्यम् कहते-कहते फिर झुक गया।

आंजनेय ने देखा—कुछ दूर पर सरस्वती भी आँचल पसारे, माथा टेके, धूल में सनी कुछ कह रही थी।

"कोई चिन्ता न करो, माई। भगवान् चाहेगा, तो किसी का बाल भी बाँका न होगा !" सरस्वती के पास जाकर वह आदेश के स्वर में बोला—"उठो, माँ—लक्ष्मी-पूजन समाप्त करो।··· चलो, हम सब मिलकर दयामयी देवी की प्रार्थना पूरी करें।"

"भगवान् ने कैसे भेज दिया तुम्हें इस घोर आफत में ?"—हाथ जोड़े सुब्रह्मण्यम् कह रहा था—"कैसे हम अभागे तुम्हें याद आ गए, भाई ?"

"खास तुमसे ही मिलने आया था। सोचा—दीपावली में तुमसे जरूर भेंट हो जाएगी।···अनुताप की आँच इतनी तेज हो

उठी, कि चुप न रह सका।"'और गोपाल''क्या कहूँ तुमसे उसकी दुर्दशा ?"

कहते-कहते आंजनेय का गला भर आया।"'एक हफ्ते तक वह वहाँ रह गया; और, तत्परता से दोनों का कुदरती-इलाज करता रहा। इस बीच वह कई रोज सुब्रह्मण्यम् को अपने साथ घुमाता और एकान्त में बहुत-कुछ सुनाता भी रहा।

बड़ी तेजी से दोनों अधजलों के घाव भर गए; और, दो ही चार दिनों में दोनों खाट से उठ कर खड़े भी हो गए।"'

आग से जले लोग तो चंगे हो गए; पर, जो एकदम चंगा था, वह अब अन्तर के तीव्र ज्वाला-जाल में जलने लग गया। वह ज्वाला—जिसका कहीं कोई इलाज न था। वह अन्तर्हित अनुताप की ऐसी आँच थी, जो भट्टी की तरह बहुत दिनों तक सुब्रह्मण्यम् की छाती में कुड़कती रह गई! वह थी लक्ष्मी की निर्दोपिता और गोपाल की दुष्टता की आलुलित आग!"'

जलो, सुब्रह्मण्यम्! युग-युग तक तुम उसमें जलते रहो। एक निर्दोप नारी को सताने का दण्ड तो तुमको भोगना ही पड़ेगा!"'नरक की इस नीली-पीली आग से कौन अछूता रह सकेगा?"'एक तो पैर कटा कर मरा; दूसरा दुनिया से विरक्त हुआ"'और तीसरा आज अन्तर्ज्वाल में दग्ध होकर यों तड़प रहा है"'

तीन ही क्यों—तैंतीस कोटि जले इस अत्याचार की अनुस्यूत

आग में !!

विदा लेते समय, अर्ध-दग्ध कोयले-सा, कृतघ्नकाय सुब्रह्मण्यम् डाक्टर को कुछ देना चाहता था। उसने आग्रह करके कहा—"एक चीज जरूर लेते जाओ, आंजनेय !···देखते हो वहाँ,—नीम के पास खड़ी, उसकी काली गाय और उसका वह हुड़दंग बछड़ा ?···वह गाय उसके लिए आँसू बहाती-बहाती सूखकर काँटा हो गई है। कई बार सोचा—'भेज दूँ वहाँ,' पर हिम्मत न पड़ी।···ले जाओ, भाई—इन्हें उसके 'आश्रम' में रख देना।···मैं, कम-से-कम, गो-हत्या के पाप से तो बच जाऊँगा !"

सुब्रह्मण्यम् की बात सुनकर और गाय-बछड़े की दशा देख-भालकर, आंजनेय संकोच से बोला—"गाय को तो मैं ले जाऊँगा, पर बछड़ा तुम अपने काम के लिए रख लो, भाई।"

यह कहकर आंजनेय उठ खड़ा हुआ; और, जाते-जाते कहता गया—"जीवन भूलों का एक भारी गट्ठर होता है, भाई। आदमी को मरते-दम तक उस गट्ठर को ढोते चलना पड़ता है !···उदारता पूर्वक माफ कर देना मेरी सारी गर्हित गलतियाँ। तुम्हारी इस उदार कृपा से मेरे अनुतप्त मन की आग कुछ कम हो जाएगी; और, मैं साँस लेने लायक हो जाऊँगा, भाई !"···

"और मेरी भूल कौन माफ करेगा, आंजनेय ?···वह भूल—जिसके कारण एक हरा-भरा बाग यों उजड़ गया !!"

प्रश्न गूँजकर रह गया—कहीं से कोई उत्तर नहीं मिल सका।
···आंजनेय भी सिर झुकाए खड़ा रह गया; और, जैसे सारी प्रकृति ही प्रकम्पित होकर स्तब्ध हो उठी !

"और मेरी प्रार्थना तो नहीं भूलिएगा, महात्मन् !" कहती-कहती शान्त, सौम्य, संकुचित सरस्वती, गोद में रामू को लिए, आंजनेय के चरणों में झुक गई—"यह घर उन्हीं का है : यह लड़का भी उन्हीं को 'रानी-अम्मा' कह-कहकर, दिन-रात पुकारता रहता है ! उनको हम दोनों की सुधि करा दीजिएगा भगवन् !"

डाक्टर जब सामने से चला गया, तब सुब्रह्मण्यम् के ऊपर से जैसे एक प्रलयंकर झंझा निकल गई। आत्म-ग्लानि के कठोर कोड़ों ने जैसे उसकी खाल ही उधेड़ दी हो ! मौका पाते ही, आँख बचाकर वह घर से निकल जाता; और, प्रायः पिनाकिनी के किनारे तेजी से चहल-कदमी करता, बड़बड़ाने लगता :

"आशंका !···झूठी आशंका !!···सती-शिरोमणि पर मिथ्या कलंक ! निरपराधिनी नारी को ऐसी कठोर सजा !···डाक्टर, तूने मेरा वह निर्बल आधार भी क्यों तोड़ दिया—मेरे संशय-सर्प को तूने निस्सार रस्सी क्यों प्रमाणित कर दिया ?···ओह ! वह सर्प तो दूर से ही मेरे कलेजे को कँपा रहा था; लेकिन, यह रस्सी तो, यम-पाश की तरह, मेरे प्राण ही खींचे लेती है !···

क्या कहा—'लक्ष्मी निर्मला है !···बाग का वह नाटक षड्यंत्र-मात्र था !'···अरे दुष्टो ? तुम लोगों ने मिलकर निर्ममता से मेरा यों सर्वनाश क्यों कर दिया ?···क्यों न मुँह में कपड़ा ठूँसकर औंधे कुएँ में ढकेल दिया मुझे ?···वह मौत इस जिन्दगी से कहीं बेहतर होती !"

'उसकी स्त्री असती थी !'—दोनों हाथों अपना ही बाल नोचते वह कहने लगा—"यह परिताप क्या भूल जाने लायक है ?···क्या इसका तीक्ष्ण विषदंश कभी मेरा पीछा छोड़ेगा ?···दूसरी शादी करके दूध-पूत से भर गया हूँ जरूर, सरल-हृदया सरस्वती भी घर में दासी की भाँति रात-दिन खटती रहती है।···लेकिन क्या घर की वह गरिमा है—जो लक्ष्मी के आते ही इसके कन-कन में आ बसी थी ?···

"अरे, तब यह चमकीला आकाश दया करके कितना पास पहुँच गया था ! गन्ध-मुग्ध हवा उस समय कैसी विनम्र बन गई थी ! यह निर्मल नदी किस तरह कल-कल करने लग गई थी !···घर-बाहर, शिशु-सा एक गौरव कैसा इठला उठा था चारों तरफ ! लगता था, जैसे कोई महारानी ही आकर मेरे घर में निवास कर रही हो !···"

सिर जमीन में पटक लिया—"मर जाऊँ ?···डूब जाऊँ ? हाय रे, कहाँ गई वह गरिमा ?···कहाँ गई वह मधुरिमा—जो लक्ष्मी के चरणों में मुग्ध भाव से लोटती जान पड़ती थी ? कहाँ हैं वे गम-गम करते खिले-फूल—जो लक्ष्मी के सामने सहमे,

सकपकाए-से जान पड़ते थे ?···उसके मधुरिमा-मय नेत्र, जब सरल भाव से किसी ओर उठ जाते थे, तो लगता था—सारी प्रकृति हँसते कमल बनकर धरतीपर खिल रही हो !···जिधर जरा भी वह मुसकुरा देती थी, दिशाएँ उन्मत्त होकर नाचने लग जाती थीं—ढेर-के-ढेर फूल हठात् चू पड़ते थे !···"

शून्य नयनों से, वह दूर नदी के उस पार देखने लगा : "सच, मुझे उससे कोई शारीरिक सुख नहीं था; परन्तु उसके आते ही जो एक आभा आ बसी थी घर-बाहर—कहाँ चली गई वह गम्भीर ज्योति धरती-आकाश से ?···अभागे पति के लिए, सचमुच, वह पत्थर की मूर्ति ही थी; लेकिन, मेरे मिट्टी के मन्दिर को वह प्रतिमा कितना दिव्य, कितना पवित्र और कितना गरिमा-मय बना गई थी,—अनगढ़ ईंट-पत्थर भी कैसे हँसने लग गए थे उसकी उपस्थिति में !···"

अपने-आप गालों पर तड़ातड़ तमाचे मारकर वह फूट पड़ा :

"···'उसकी स्त्री असती थी !'—दिशाओं से अब यह व्यंग्य-ध्वनि उठती है; और, भीषण अट्टहास से मुझे केन्द्र बनाकर नाचने लग जाती है—जैसे सहस्र-फण वाले शेष ने ही अपना प्रलयंकर सिर उठाया हो !···दिन-रात चलने वाले नावक के इन तीक्ष्ण तीरों से मैं कैसे अपनी रक्षा करूँ ?···रामू उसकी रट लगाए रहता है !···अरे मूर्ख, जानता है—वह तेरी ओर देखेगी भी ? तू दौड़कर उसके पास जाएगा; और, वह दुत्कारकर तुझे

निकाल देगी !···अरे, मेरा पाप ही उतना बड़ा है ! तू नादान उसकी गहराई क्या समझेगा ?···सरस्वती कहती है—'वहन की सेवा करूँगी !'···हा-हा, वह बहन उसकी ओर नजर उठाकर देखेगी भी ?···अरे मूढ़ो···कैसे समझाऊँ अपना पाप तुम लोगों को ?···"

यो, अपने-आप में घुलता-पचता, वह आधी-आधी रात को घर लौटता था।

सुब्रह्मण्यम् की गति-विधि देखकर सरस्वती अत्यधिक शंकित और चिन्तित हो उठी। न वह घर पर रहता था, न ठीक से खाता-पीता था; और, न उससे दिल खोलकर वात-चीत ही करता था। दिन-दिन वह सूखता चला जा रहा था। सरस्वती समझती तो थी सब कुछ, पर कुछ कहने का साहस उसे न होता था—क्या कह कर वह समझाए उसे ? सारे कष्टों का कारण तो वह खुद थी। उसी के चलते तो इतना बड़ा कुकांड हो गया इस घर में !·· ग्लानि से गल जाने की इच्छा उसे होती—क्यों पैदा हुई वह इस दुनियाँ मे ? अगर वह न पैदा हुई होती, तो गोपाल यह खुरापात क्यों करता ?···तो क्या वह आत्म-हत्या कर के सबो का सन्ताप दूर कर दे ?···नहीं, यह पाप करके वह अपना परलोक क्यों बिगाड़े ?···और, अब तो वह अकेली जान नही है; बच्चा तो अब उसकी परवाह नहीं करता; पर, एक अंकुर जो उसके अन्तर मे जम रहा है—उसका नाश वह कैसे करे ?···यो संकल्प-

विकल्प में पड़ी वह सरला भी सूखने लगी।

रामू स्वस्थ हो चला था, पर माँ-बाप की वह मानसिक अस्वस्थता, अनजान में ही, उस अबोध बालक को भी प्रभावित करने लगी। एक दिन सुब्रह्मण्यम् सूर्यास्त के पहले ही जो घर से निकला, रात के ग्यारह बजे लौटा। तब तक, दूसरों की बात ही क्या, रामू ने भी न खाया, न वह सोने ही गया—'बाबूदी··· कआँ···'बाबूदी···'कआँ···' कह कर कभी माँ का अंचल खींचता, तो कभी बूढ़ी की गोद में जाकर ऊधम मचाता—'बाबूदी कआँ गए···'दादी ?'···

सुब्रह्मण्यम् के आते ही रामू दौड़ आया; और, कहने लगा—"बाबूदी, काने तलो—अम्मा बुलाती अय !"—हाथ पकड़कर वह बापको खींचने लगा। बाप ने अनमने भाव से गोद में लेकर उस चुलबुल बालक का मुख चूम लिया; और, धीरे से कहा—"रामू, रानी-अम्मा के पास नहीं चलेगा ?"

"मुधे बूक लगी अय—काने तलो।"

उसी समय सरस्वती घर से निकली। रामू उससे लिपट गया। सहमी चितवन से देखती वह बोली—"बहुत उदास दीखते हो ! इतनी देर क्यों लगा देते हो ?···चलो, भोजन कर लो।···रामू शाम से ही मचल रहा था।···तुम्हें मेरी ही कसम ···अब रामू को उनके पास रख आओ।···मुझसे यह सब अब देखा नहीं जाता है।"···कह कर वह रो पड़ी !

सुब्रह्मण्यम् क्या जवाब देता—धुँधली नजर से एकटक उसका मुँह देखता रह गया !···ओह—कैसी काली दीवार खड़ी थी बेचारे के सामने—कुछ भी दीख नहीं पड़ता था उसके आर-पार !

रामू हाथ पकड़ कर पिता को खींच ले गया। रसोई घर में जाकर वह हल्ला मचाने लगा—"मै इछ पीले पल बैथूँगा। मुझे भी बली थाली दो, अम्मा।"—गिलास को पास में रखकर रामू बाप के सामने ही पींढ़े पर बैठ गया।

"मुधे घी नई दिया···नईं काऊँगा !"

वह मचलने लगा। सरस्वती घी ले आई। अंजुली में घी लेकर वह खाने लगा। उसकी नजर पिता के पत्तल पर थी—"अम्मा ! तुमी किला दो।"

सुब्रह्मण्यम् खिलाने लगा, तो उसने मुँह फेर लिया। सरस्वती आकर मुँह मे कौर देने लगी, तो खुशी से मुँह खोल देता था।

पुत्र और पत्नी के बीच, शनैः शनैः उसकी पीड़ा पर पर्दा पड़ने लगा; और, वह संकुचित नयनों से उन्हें देखता, अनमने तौर पर भोजन करने लगा। उसकी एक आँख पत्तल पर थी, और, दूसरी रामू तथा सरस्वती की ओर। क्रमशः वह भूलने लगा—कि एक क्षण पहले, वह काँच की भट्ठी की तरह कुड़क रहा था !···

जो कहते हैं—'समय कभी स्थिर नहीं रहता'—वह भूलते हैं। समय सदा स्थिर रहता है, कभी बदलता नहीं, वह अमर है।

हाँ, वह दूसरों को स्थिर नहीं रहने देता। परिवर्तन लाना, सदा उलट-पुलट करते रहना, उसका स्वभाव है। एक सिद्ध योगी की तरह वह सदा सब कुछ देखता-सुनता रहता है, समझता-बूझता रहता है। भूत, भविष्य और वर्तमान उसके आज्ञाकारी अनुचर है। समय सदा निर्विकार, निरलस रहकर समस्त सचराचर को निर्दिष्ट पथ पर बढ़ाता जाता है। दुःख सहसा सुख में बदल जाता है; पाप पलक मारते पुण्य की पोशाक पहन लेता है; उच्छ्वास उमड़ कर उल्लास का रूप धारण कर लेता है; और, विलाप हिचकी लेते-लेते आलाप ले उठता है! स्मृति को बात-की-बात में विस्मृति घेर लेती है!…

समय का यही काम है।

जो कहते हैं—'चार दिन की चाँदनी फिर अँधेरी रात!'—वह भी भूलते हैं। सूरज डूब कर फिर उग आता है, तारे मलिन पड़कर फिर चमक उठते हैं। ऋतुओं का चक्कर कभी टूटता ही नहीं। अमावास्या के बाद पूर्णिमा और पूर्णिमा के बाद अमावस्या, यह क्रम बराबर चलता रहता है। इसमें कभी कोई व्यतिक्रम नहीं होता है। यों देखा जाए, तो समय कभी बदलता नहीं—सिर्फ उसकी पोशाक में हेर-फेर होता रहता है!

'हम चालीस साल के हुए!'—जो यह कहकर समय की गति पर आश्चर्य प्रकट करते हैं, वह भी अनुभवी नहीं कहे जा सकते। अनुभवी तो ऐसा समझते हैं, हमारी निधि से चालीस थैलियाँ लुट गईं! सच है, बीतते हैं हम, समय तो सदा वर्तमान

ही रहता है।''हाँ, इसकी माया बड़ी विचित्र है! कल रोने वाले आज हँसते हैं; और, आज हँसने वाले कल रोते हैं! जो किसी की नहीं सुनता, उसे शक्ति-शाली समय समझा देता है। अगर ऐसा न होता, तो क्षणांतर में ही, इस सुन्दर सृष्टि का संहार हो जाता।

समय के उसी शीतल स्रोतने सरस्वती की सेवा से, उसकी सरल शारीरिक श्री से, उसके निश्छल मधुर हाव-भाव से तथा उसकी पुनीत पुत्र-सम्पदा से सुब्रह्मण्यम् को बहलाकर, उसकी चिन्ता-ज्वाला को विस्मृति-वारि से बुझा दिया। दहकती चिनगारियाँ धीरे-धीरे राख के भीतर छिपती गईं; और, जीवन जीने लायक हो गया!

'खुशी के दिन जल्द बीत जाते हैं'—के अनुसार, सरस्वती के वे नौ मास भी, बात-की-बात में बीत गए। प्रसव का परम प्रमोद-काल आया। स्त्रियों की यह घड़ी प्रायः पीड़ामय होती है; और, कभी-कभी वह पीड़ा उनके प्राण भी हर लेती है, फिर भी पुरुषों को इसमे विनोद और आनन्द ही अधिक आता है! सिर्फ पुरुष ही क्यों, घर-बाहर की सभी स्त्रियों को भी इसमें उल्लास ही दीख पड़ता है!

भोली सरस्वती प्रसव-गृह में पड़ी छटपटा रही थी। उसकी वेदना-ध्वनि बाहर बैठे भोले सुब्रह्मण्यम् को रह-रहकर कँपा देती थी। बूढ़ी सास उथल-पुथल में थी। पड़ोसिनें आ जुटी थीं।

दाई 'सुखिया' मचल रही थी—'राजा-बेटा ही आ रहा है, इसी से इतनी देर!' सखी-सहेलियाँ आवाजें कस रही थीं—'ऐसा नखरा तो पहली बार भी नहीं देखा गया था!'···

सच, चिड़ियों की जान जाए, लड़कों का खिलौना!

।

सरस्वती का कराहना, उसका छटपटाना, वेदना से विह्वल होकर व्यग्र विलाप करना—आदि सुनकर उसके साथी पुरुष को भी पीड़ा होने लगी। शहर होता, तो अस्पताल की नर्सों की निगरानी में, लोग निश्चिन्त हो जाते। लेकिन इस पल्ली-ग्राम में 'सुखिया' के सिवा और कोई चारा न था। सुब्रह्मण्यम् की मुखाकृति देखकर 'सुखिया' जी जान लड़ाने लगी। लेकिन, सरस्वती की पीड़ा कम होने के बदले, प्रबल ही होती चली।

"ओह, अब नहीं बचूँगी! कहाँ हैं···वे···?"—छटपटाकर सरस्वती चिल्ला उठी।

सुब्रह्मण्यम् से रहा न गया। वह दौड़कर प्रसव-गृह में ही चला गया। तड़पती हुई सरस्वती उसके चरण छूकर बड़े कष्ट से बोली—"विदा दो,···अब जाती हूँ!···कहा-सुना माफ कर देना।···"

"यह क्या कहती हो—तुम चली जाओगी, तो हमारी क्या गति होगी; और, रामू को कौन देखेगा?"—भर्राई आवाज से सुब्रह्मण्यम् बोला।

"उसको···'रानी-अम्मा' के पास जरूर ले जाना!···तुम्हें

मेरे···ओह···सिर की कसम···और···नई दुलहिन घर में न लाना!···आ···आ···ह!···"

"जाओ, बाबू—" सुखिया ने सरस्वती को सँभाल कर कहा—"अब समय हो गया है!"

सहसा सरस्वती के मुँह से एक प्राणान्तक चीख उठी; और, दूसरे ही क्षण वह शान्त हो गई। सुखिया ने धीरे से कहा—"लक्ष्मी ही आई!"···

सुब्रह्मण्यम् को सुखिया इस समय जेलर-सी कड़ी मालूम हुई; और, वह मन-ही-मन उसे कोसता बाहर निकल आया।···

थोड़ी ही देर में घर में गजब का कुहराम मच गया। सुब्रह्मण्यम् व्याकुल होकर दौड़ा—"एं-एं—क्या हुआ—क्या···?"

जवाब देने के बदले सब लोग छाती पीटने लगे। सरस्वती की आँखें पथरा गई थीं। हिला-डुलाकर सुखिया ने देखा; और, उसने सिर झुका लिया। फिर सबों ने दोनो हाथों अपना सिर पीट लिया। सरस्वती स्वर्ग सिधार चुकी थी!···हाँ, स्वर्ग···इस धरती से ऊँचा—जाने कितना ऊँचा!···

स्वर्गलोक की ओर जानेवाली उस पुण्यात्मा के पीछे असहाय आदमियों का करुण-क्रन्दन शून्य लोक की ओर दौड़ा तो जरूर; पर, हताश और विवश होकर लौट आया। काल के

क्रूर कर्म के आगे किसी की कुछ न चली। न तो कोई उसको लौटा सका; और, न कोई उसके साथ ही जा सका! आत्मा एकाकी आई थी; और, अकेली ही चली गई।···हाँ, सुमन-वास की तरह उसकी सुकीर्ति अब भी चारों ओर फैल रही थी—'आह, वह देवी थी!'···वास्तव में सरस्वती देवी थी; इसी से, विमुक्त विहंगम की भाँति, इस कुटिल प्रपंच से उड़कर, वह देव-लोक में जा बसी, जिससे यह दुनिया दुविधा-रहित होकर, अपनी राह चली जाए!···सचमुच वह भली औरत जीना भी नहीं चाहती थी। सर्वान्तर्यामी ने उसके अन्तर की पुकार सुन ली।···आह, सरस—तू रामू की 'रानी-अम्मा' का साहचर्य न पा सकी···काश, तू उसकी बहन होकर पैदा हुई होती!

•

इधर शोकाभिभूत सुब्रह्मण्यम् रामू को गोद में लेकर अन्ध-चिन्ता-जाल में भ्रमण कर रहा था, कि एकाएक जोर का झोंका आया; और, किवाड़ों को खटाक से खोल, सुब्रह्मण्यम् के शरीर पर से कपड़ा उड़ा ले गया।···जाड़े से काँप कर रामू ने कहा—"दाला लगता अय, अम्मा!"

बाप ने बेटे को छाती से लगाकर दुपटी ओढ़ ली। रामू फिर चौंका—"लानी-अम्मा, आता ऊँ!"

सुब्रह्मण्यम् ने रामू को हिला-डुला कर जगा दिया।

रामू ने विस्मय से देख कर कहा—"बाबूदी, लानी-अम्मा के पाछ न तलोगे?"

बूढ़ी ने, अपनी कोठरी के भीतर से ही, कहा—"बेटा, रामू को उसकी रानी-अम्मा के पास ले जाओ। नहीं, तो यह उसका नाम रटते-रटते सूख जाएगा।"—और वह फूट-फूटकर रोने लगी—"ओह कहाँ चली गई मेरी आँखों की पुतली?"

सुब्रह्मण्यम् ने अनजान-सा बन कर पूछा—"किसके पास ले जाने को कहती हो, अम्मा?"

आँसू पोंछकर बूढ़ी ने कहा—"अनजान क्यों बनते हो, बेटा! रामू की रानी-अम्मा कौन है, जानते नहीं?"

रामू सुनते ही उछल पड़ा—"क्या दादी, लानी-अम्मा?··· अँ-अँ, मै दाऊँगा लानी अम्मा के पाछ···"

सुब्रह्मण्यम् ने अत्यंत संकोच से कहा—"मैं किस मुँह से उसके पास जाऊँ, अम्मा?···तुम कैसे यह बात कहती हो?··· क्या पिछली सारी बातें भूल गई हो?···जिसको मैंने···"

रामू बाप से लिपट गया—"मुधे ले तलो, बाबू दी! मेरे कअनेछे ओ जल्लूल आयगी।···तलो, अबी तलो!"—वह उछलने-कूदने लग गया।

बूढ़ी ने गला साफ करके कहा—"कुछ दुविधा न करो, बेटा! वह देवी है;···रामू को हरगिज नहीं ठुकराएगी।···जो देवी होती है, बेटा, वह इस नादान दुनिया की भूलों पर ध्यान नहीं देती है—चोट खाकर भी माँ की तरह मुसकुराती और चुमकारती रह जाती है।···मेरी लक्ष्मी वही देवी है, बेटा!" यह कहकर बूढ़ी जोर-जोर से चिल्लाने लगी—"कहाँ हो देवी

···देख न जाओ—यह लड़का तुम्हारे लिए कैसा व्याकुल है !"

साहस बटोरता सुब्रह्मण्यम् बोला—"तो रामू को ले जाऊँ, अम्मा ?···तुम्हारा यही विचार है ?"

रामू एकाएक उछल पड़ा—"दल्दी कुलता-तोपी पेना दो, दादी !"

बूढ़ी—"जरूर जाओ, बेटा ! लक्ष्मी कभी इसको निराश न करेगी ! मेरी बात गाँठ बाँध लो !—अरे वह ममता की मूर्ति है !···देखा नहीं था, बेटा—वह सुब्बू के बच्चों को कितना प्यार करती थी !···मैं घृणा करती थी, लेकिन वह ममता से उमड़कर निस्संकोच उन्हें गोद मे उठा लेती थी; और, अपने बच्चों की तरह मुग्ध नयनों से देखने लग जाती थी !···मैं भीतर से कुढ़ कर रह जाती थी; और, वह उन्हें दूध पिला आती थी अपने हाथ से।···चिन्ता न करो, बेटा—रामू को देखते ही दौड़ कर वह इसे छाती से चिपका लेगी; और, फिर कभी अपनी गोद से उतारेगी नहीं।···अरे, यह तो उसी का बेटा है, उसी की ममता की मूर्ति है—सरस्वती तो जैसे इसे दूध पिलाने ही आ गई थी देव-लोक से !···"

कहती-कहती वह हठात् रुक गई—जैसे उसके गले में कुछ अटक गया हो। कुछ देर चुप रही; और, फिर कुछ खाँसती हुई बोली—"बेटा, सरस तो लक्ष्मी की देह मात्र थी—आत्मा दोनो की एक थी।···अरे, सौत की भावना कभी उसके मन में उठी ही नहीं—दिन-रात उसी के ध्यान में वह मग्न रहती थी; जैसे

कोई भक्त भगवान् का ध्यान करे !···ऐसी सौत कभी किसी ने देखी न होगी !···"

सुब्रह्मण्यम्—"तो आशीर्वाद दो, अम्मा ! मैं रामू को ले जाता हूँ।···देखूँ, तुम्हारा आशीर्वाद फलता है, या नहीं !"

बूढ़ी—"जाओ; और, जाकर चुपचाप बच्चे को उसकी गोद में डाल देना। बच्चा उसे पहचान लेगा; उसके बाद तुम्हें कुछ नहीं करना होगा—रामू अपना काम खुद देख लेगा।"

सुब्रह्मण्यम् चुप रह गया। उसका मन आगा-पीछा कर रहा था—ठीक डाल पर डोलते झूले की तरह ! अपराध की गुरुता उसके हृदय को इस तरह दबोच रही थी, कि माँ की बातों का असर उस पर बैठता नहीं था—जैसे गिरि-शृंग पर पानी नहीं अटकता है !

दूज का चाँद

सुब्रह्मण्यम् व्याकुल मन से सोचता जा रहा था—"सौत के बेटे को वह मानिनी कभी गोद में लेगी ?···जिसका दरवाजा मैंने इतनी कठोरता के साथ बन्द कर दिया है—वह नारी क्या इसके लिए दरवाजा खोलेगी ?—विश्वास तो नहीं होता, कि मेरे इस कलेजे के टुकड़े पर वह इतनी कृपा करेगी !···"

रेलगाड़ी को देखकर रामू ने विस्मय से पूछा—"यह क्या अय, बाबूदी ?"

सुब्रह्मण्यम्—"यही रेलगाड़ी है, बाबू।"

रामू ने नहीं समझकर कहा—"रेलगाड़ी क्या काती अय ?"

सुब्रह्मण्यम्—"कोयला।"

रामू को विश्वास न हुआ; इस लिए अनमना होकर बोला—"अम्मा कआँ गई, बाबूदी ?"

सुब्रह्मण्यम्—"भगवान् के पास !"—कहते-कहते उसका कलेजा कट गया; सहसा रामू को छाती से लगा कर वह दर्द से कराह उठा—"आह !—कहाँ चली गई मेरी सोने-सी सरस—हम अभागों से वह क्यों रूठ गई !···अरे, मैंने उसकी कोई इच्छा पूरी नहीं की···शायद इसी से वह चली गई—हमें यों अन्धा बनाकर !···"

बाप के बाहु-पाश में छटपटाता रामू बोला—"बगवान कआँ लअता अय, बाबूदी ?"

सुब्रह्मण्यम् ने आसमान की ओर उँगली उठाकर कहा—"स्वर्ग मे !"

कुछ न समझकर रामू चुप हो गया; और, खिड़की के बाहर तेजी से भागती जाती दुनिया को विस्मय से देखने लगा। कुछ क्षण यों ही देखते-देखते वह प्रश्न कर बैठा—"ओ आम औल ओ घल-बाल छब क्यों दौल लए अयँ, बाबूदी ?"

कोई जवाब न पाकर बच्चा घूम कर बाप का मुँह देखने लगा; और, पुनः वही सवाल कर बैठा।

सुब्रह्मण्यम् तब भी चुप रह गया—उन भागते हुए पेड़-पौधों और घर-बार को देखते हुए।

बच्चा कुतूहल से बाप की ओर देखता रहा।

सुब्रह्मण्यम् ने बच्चे का प्रश्न सुना तो जरूर; पर, एक तो वह मर्मान्तक व्यथा-भार से दबा हुआ था; दूसरे, शायद उस सवाल का सही उत्तर भी उसे मालूम न था।···इतने में स्टेशन पहुँचने के पहले ही जोर से चिल्ला कर गाड़ी रुक गई। सुब्रह्मण्यम् ने गर्दन निकाल कर देखा—सिगनल का हाथ खड़ा था। कुछ लोग उतर पड़े, और, रामू रोने लगा—"मैं इयाँ नई उतलूँगा—बाबूदी, मुधे दादी के पाछ ले तलो; मैं लानी-अम्मा के पाछ नईं दाऊँगा।···"

सुब्रह्मण्यम् बाल-स्वभाव की इस क्षण-भंगुरता पर विस्मित

हो उठा।

•

पूर्णिमा का चन्द्रमा क्षितिज से झाँकने लग गया था। कार्तिक की सुहावनी सन्ध्या पश्चिम दिशा की लाली पर धुँधला पर्दा डालने आ गई थी! रामू रोते-रोते ऊँघने लगा था। सिगनल होने पर गाड़ी खुली; और, स्टेशन पर आकर खड़ी हुई।··· मुसाफिर उतर पड़े। लेकिन, सुब्रह्मण्यम् अभी इधर-उधर ही कर रहा था।

कुली ने आकर कहा—"सामान उतारूँ, बाबू?"

रामू उठकर बोला—"यई उतलोगे, बाबूदी?"

सुब्रह्मण्यम् कुछ नहीं बोला।

कुली ने उसकी पेटी उतार दी; और, फिर रामू को भी उतार-कर प्लैटफार्म पर खड़ा कर दिया। सुब्रह्मण्यम् तब भी गाड़ी में ही खड़ा था!···

कुली—"क्या कुछ खो गया है, बाबू?"

सुब्रह्मण्यम् कह दो न—कि मेरा मन ही खो गया है!

गाड़ी ने फिर खुलने की सीटी दी। कुली ने सुब्रह्मण्यम् का हाथ पकड़कर गाड़ी से खींच लिया। झक्-झक् करती गाड़ी खुल गई। रामू को गोद में लेकर पेटी उठाए कुली आ ही रहा था, कि गाड़ीवानों ने उसे घेर लिया। एक ने रामू को कुली की गोद से उतार लिया; और, दौड़कर उसे अपनी गाड़ी में बिठा

दिया। दूसरे ने कुली के माथे पर से उसकी पेटी छीन ली; और, ले जाकर अपनी गाड़ी में रख ली। तीसरे ने सुब्रह्मण्यम् का हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचना शुरू किया—"चढ़िए, बाबू!"

सुब्रह्मण्यम् तो हक्का-बक्का रह गया। उधर रामू जोर-जोर से रो रहा था। गाड़ीवान से हाथ छुड़ाकर सुब्रह्मण्यम् रामू के पास आ गया। कुछ देर बाद उसकी पेटी भी आ गई। फिर भी वह गाड़ी पर चढ़ नहीं रहा था।

रामू और गाड़ीवान—दोनों ने आग्रह किया—"चढ़िए न, बाबूजी!"

लेकिन बाबूजी तो रह-रहकर स्टेशन की ओर ही देख रहे थे।···हठात् वह झटके से उतर पड़ा। जल्दी-जल्दी रामू को भी उतार लिया। पेटी उतार ही रहा था, कि रामू रोने लगा—"मैं नईं उतलूँगा—ऊँ···ऊँ···ऊँ।···मैं लानी-अम्मा के पाछ दाऊँगा!···"

इतने में गाड़ीवान उतरकर सामने आया, और, टेढ़ी नजर से देखकर बोला—"उतर क्यों रहे है, बाबू?"

सुब्रह्मण्यम्—"सामान स्टेशन पर पहुँचा दो···मुझे दूसरी जगह जाना है।"

गाड़ीवान ने पेटी को दृढ़ता से पकड़कर कहा—"तो गाड़ी का भाड़ा दे दीजिए। मेरी तो मजूरी ही मारी गई। आप तो कुछ सनकी मालूम होते है, बाबू!"

रामू मचलने लगा—"मैं लानी-अम्माँ के पाछ दाऊँगा।"

वह हाथ पकड़ कर पिता को गाड़ी में ले गया। गाड़ीवान बड़े विस्मय से यह सब देख रहा था। पेटी गाड़ी में रखकर वह भी चढ़ गया; और, गाड़ी हाँकने लगा। रह-रहकर शंकित मन से घूमकर गाड़ी में देख लेता था—जैसे कहीं सुब्रह्मण्यम् कूद तो नहीं पड़ा गाड़ी से!

कुछ दूर जाने पर घूमकर गाड़ीवान ने पूछा—"कहाँ जाना है, बाबू?"

"तिलकपेट···धीरे-धीरे जाने दो।"

खड़-खड़ाती हुई गाड़ी कुछ दूर चली; फिर, एकाएक रुक गई—और अड़ियल घोड़ा पीछे हटने लगा। गाड़ीवान ने पहले पुचकारा, बढ़ावा दिया और डराया-धमकाया; पर, जब कोई असर न हुआ, तब उसने गन्दी गालियों के साथ उस जानवर पर सटासट चाबुक की बौछार कर दी। घोड़ा इसी का आदी था—बस, ऐंठ-जूठ कर वह कदम बढ़ाने लगा!···

कुमुद-बान्धव का स्निग्ध संकेत पाकर परोपकारी पवन दौड़ा आया; और, अपने शीतल स्पर्श से, ताप-तप्ता कुसुम-रानी को जुड़ाकर, इठला उठा—"देखो, आ रहा है वह—तुम्हारा प्रेमी!"

कुसुम-रानी कृत-कृत्य होकर बोली—"भाग्य पर तो भरोसा नहीं था। लेकिन आप सरीखे महात्माओं का वचन कभी मिथ्या हो सकता है?···पूर्ण-काम को भला यह भिखारिणी क्या भेंट धरे?"

प्रमुदित पवन डोल उठा—"देवी, तुम्हारे संसर्ग से ही तो मैं सुरभित हुआ हूँ !···मुझे और क्या चाहिए ?"

कुसुम-रानी संकोच में पड़ गई ! क्षणान्तर में सर्वत्र चन्द्रिका चुहचुहा उठी; और, एक मायामय आलोक उतर आया गगनागन से ।

झुकी कमर वाले भारतीभूषण फूलों की क्यारी में धीरे-धीरे टहल रहे थे ! सुब्रह्मण्यम् की गाड़ी अड़ती-बढ़ती जैसे ही उस बाग के विशाल-फाटक पर आ खड़ी हुई, कि सुब्रह्मण्यम् का कलेजा धक्-से रह गया ?···अब गाड़ी से उतरना उसके लिए मुश्किल था । उसका मन तेजी से पीछे हट रहा था—अपने घर की ओर ।

गाड़ीवान ने कहा—"उतरिए न बाबू—यही तो पंतुलुजी का घर है !"···

सुब्रह्मण्यन् तब भी उतर नहीं रहा था । गाड़ीवान् ने रामू को उतार लिया । पेटी उतार कर, बिना पूछे ही, दरवाजे पर रख आया । सुब्रह्मण्यम् तब भी गाड़ी में ही बैठा था ।···हठात् कूदकर वह रामू के पास आ गया; और, उस रोते बच्चे को जबर्दस्ती गोद मे उठाकर गाड़ी में ले गया । फिर बोला—"मेरी पेटी लाओ, गाड़ीवान ? मुझे स्टेशन लौट जाना है !"···

गाड़ीवान् कुछ नहीं समझ सका, और, झल्लाकर बोला—"बाबू, पेटी तो मै दरवाजे पर रख आया हूँ !"

सुब्रह्मण्यम् घबरा कर बोला—"नहीं-नहीं; दौड़ो—जल्दी से पेटी ले आओ। देर न करो—मुझे स्टेशन जाना है। गाड़ी छूट जाएगी !"

रामू रो-रो कर कहने लगा—"ऊँ-ऊँ ! मैं लानी-अम्मा के पाछ दाऊँगा।"

वह नादान गाड़ी पर से उतर पड़ा; और—'लानी-अम्मा ! लानी-अम्मा !'—चिल्लाता हुआ फाटक की ओर दौड़ा। सुब्रह्मण्यम् ने उसे बहुत रोकना चाहा, पर वह किसी तरह नहीं रुका।

गाड़ीवाले ने फाटक पूरा खोलकर कहा—"मेरी मजूरी दे दीजिए, बाबू ! मुझे देर हो रही है !"

सुब्रह्मण्यम् ने जेब से कुछ निकाला; और, बगैर देखे-भाले ही गाड़ीवान के हाथ में डाल दिया। लैम्प की रोशनी में अच्छी तरह देखकर, गाड़ीवान उमंग से गुनगुनाता, गाड़ी में बैठ गया—"जरूर पागल था; वर्ना, एक रुपया दे देता !"

गाड़ी खड़-खड़ करती चली गई।

फाटक की आड़ में दुबका खड़ा कोई भाग्यहीन सोच रहा था—"न लौट सका, न अब अन्दर ही पैर रखा जाता है !··· रामू बरामदे पर पहुँच गया है ? देखें,—कोई कुछ पूछता है, या नहीं !—पहचानेगा भला कौन ?—कहीं कोई दुत्कार न दे !··· तब क्या हालत होगी उस नासमझ बच्चे की !···मेरी बुद्धि पर

तो पत्थर पड़ गया था—जो विना सोचे-समझे चल पड़ा !"···

"लानी-अम्मा !—ओ, लानी-अम्मा !!"

उस शान्त वातावरण में सहसा चंचल और तेज आवाज घर-बाहर गूँज उठा। यह सुनते ही इधर सुब्रह्मण्यम् सिर से पाँव तक काँप उठा—'अरे, वह तो शोर मचाने लगा है !'

आवाज सुनकर शैलजा घर से निकली, और, कोट-बूट पहने एक अद्भुत बालक को बरामदे में देखकर, भौंचक रह गई। लड़का उसके पास पहुँचकर ठिठक गया; और, गौर से उसका मुँह देखने लगा—जैसे पहचान रहा हो !—इतने में विस्मय से देखती लक्ष्मी कमरे से बाहर आ गई। उसको देखते ही रामू उल्लास से दौड़ गया उसके पास—"आँ, तूई मेली लानी-अम्मा अय ?"···

लक्ष्मी कुछ न समझ सकी—अकचकाई हुई देखती रही। इतने में लड़के ने आतुरता और गहरे विश्वास से छोटे-छोटे अपने दोनों हाथ उसकी ओर फैला दिए !···अब भला कौन ऐसी निष्ठुरा नारी होती, जो उस प्यार के पुतले को अपनी गोद में न उठा लेती !···चकित होती लक्ष्मी ने अपूर्व आह्लाद से रामू को उठा लिया; और, मधुर अवलोकन से पूछा—"क्या नाम है तुम्हारा, बाबू ?"

लड़के ने बड़ी फुर्ती से जवाब दिया—"लामू !"

"किसके साथ आए हो, बेटा ?"

"वावूदी के छाथ !"

"तुम्हारे वावूजी कहाँ हैं ?"—लक्ष्मी ने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई।

फाटक की ओर उँगली उठाकर वालक वोला—"मेले वावूदी वआँ···वआँ···देको···पातक पल कले अयँ !"

यह सुनते ही, चोर की तरह, सुब्रह्मण्यम् उचककर फाटक की आड़ में छिप गया। उसका दिल-दिमाग जाने किस तरह मथित हो रहा था; और, कलेजा जाने कैसा कसमसा रहा था।

रामू लक्ष्मी की गोद में सुस्थिर होकर फाटक की ओर देखते चिल्लाने लगा—"आओ न, वावूदी !···लानी-अम्मा तुमको वुलाती अय !"···फिर उसने लक्ष्मी का मुँह गौर से देखकर कहा—"लानी-अम्माँ, मेले घल में एक पोतो अय। उछ में छोती लानी-अम्माँ अय। तू तो वउत वली लानी-अम्माँ अय।··· लानी-अम्माँ ! मेली अम्माँ वो पोतो मुधे नईं देती ती। लेता ता, तो मालती ती !"

कुतूहल में पड़ी लक्ष्मी वोली—"तुम्हारी अम्माँ कहाँ है, वावू ?"

रामू ने कुछ यादकर कहा—"वो तो वगवान के पाछ तली गई।"···फिर लक्ष्मी का मुँह पकड़कर वोला—"पानी पीऊँगा, लानी-अम्माँ।···वात काऊँगा—वूक लगी अय !"···

किस वालक ने, ऐसे निर्भर विश्वास के साथ एक पति-परित्यक्ता नारी की गोद में वैठकर, ऐसे अद्भुत आलाप किए

थे ?···चकित और पुलकित लक्ष्मी उस एक छोटे क्षण ही में जैसे कृतार्थ हो गई। ऊर्मिल होती हुई वह अपने मन से ही पूछने लगी—'अरे, कौन है यह मन-मोहक बालक—जो इस तरह मुझ पर जादू डाल रहा है ?···कहीं देखा भी नहीं; फिर, यह अद्भुत वात्सल्य-लीला कैसी ?'

विस्मय, जिज्ञासा और ममत्व मे पड़ी हुई लक्ष्मी, लड़के को गोद मे लिए, बरामदे मे आई, और, मृदु-मधुर स्वर में लड़के से पूछने लगी—"कहाँ हैं तुम्हारे बाबूजी ?"

"वऑ···देखती नई···पातक पल ?"

शैलजा शंकित मन से फाटक की तरफ झाँकती हुई बोली—"जान तो पड़ता है कोई फाटक पर···आता क्यों नहीं अन्दर ?"

रामू कछमछाकर लक्ष्मी की गोद से उतर गया; और, फाटक की ओर लपकता हुआ चिल्लाने लगा—"बाबूदी, ओ बाबूदी—आओ न !···लानी-अम्माँ बुलाती अय !"

सुब्रह्मण्यम् के लिए अब अन्दर आने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं रहा।···धीरे-धीरे अपने को कोसता हुआ वह फाटक के अन्दर घुसा; और, ठहरता-ठिठकता, बरामदे की ओर, माथा झुकाए, बढ़ा। उसके पाँव मन-मन भर भारी हो गए थे; और, मन का भारीपन कौन तौल सकता था ? उद्वेग-पूर्ण अनुताप की एक भयंकर आँधी सायँ-सायँ करके कह रही थी—"क्यों चल पड़ा ?···हाय, क्यों चल पड़ा ?"···

रामू दौड़कर पास आ गया; और, बाप का हाथ पकड़कर खींच लाया उसे बरामदे पर : फिर लक्ष्मी की ओर देखता बोला—"देको, लानी-अम्माँ,···येई अयँ मेले बाबूदी ?"

शैलजा गौर से देखकर चिहुँक उठी—"अरे, यह तो मामा हैं !"

सुब्रह्मण्यम् हठात् ठिठक गया—जैसे मोटर में वैकुम ब्रेक लग गए हों। लक्ष्मी ने अकचकाकर देखा—और अनजाने ही वह दो कदम पीछे हट गई !

रामू जोर से चिल्लाया—"उधल कआँ दाती ओ, लानी-अम्मा ? देको न—बाबूदी तो आ गए ?"

लेकिन लक्ष्मी से उसकी ओर घूमा न गया। वह अंदर ही बढ़ती गई। इतने में रामू दौड़कर उसके पास आ गया; और, उसका हाथ पकड़कर खींचने लगा—'देको, अम्माँ—बाबूदी आ गए ?···उधल कआँ दाती ओ ?—इधल देको न !"···

लेकिन लक्ष्मी ने बिना घूमे ही बच्चे को गोद में उठा लिया; और, वह तेजी से घर के अन्दर चली गई। बच्चा उसकी गोद में छटपटा रहा था।

इधर सुब्रह्मण्यम् सकपकाया हुआ बरामदे में जाने क्या सोचता खड़ा रहा !···

दालान में लालटेन जल रही थी, लेकिन सुब्रह्मण्यम् की आँखों के आगे घोर अंधकार घिरा हुआ था। दूर पर खड़ी

शैलजा उसे तीर-सी वक्र-दृष्टि से देख रही थी। वह न कुछ बोलती थी; और, न हिलती-डुलती ही थी—जैसे कोई अद्‌भुत स्वप्न देख रही हो !···

इतने में बाग से टहल कर, भारतीभूषण दरवाजे पर आए; और, सुब्रह्मण्यम् को देखकर विस्मय-विमुग्ध रह गए। सुब्रह्मण्यम् लपक कर उनके चरणों पर गिर पड़ा; और, अपने गरम-गरम आसुओं से उन्हें धोने लगा !···

विह्वलमना भारतीभूषण ने झुककर उसे उठाया; पर, वह उनके उठाए न उठा। शैलजा, काठ की मूर्ति की तरह, खड़ी देख रही थी। उसके हृदय में क्या हो रहा था—ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता।

भारतीभूषण का उदार हृदय पिघलकर पानी-पानी हो चला था। वह बार-बार अर्धस्फुट स्वर में कह रहे थे—"उठ, सुब्रह्मण्यम्, उठ !"—लेकिन वह किसी तरह उठ नहीं रहा था।···

इतने में घर से सुभामा निकली; और, सुब्रह्मण्यम् को जोर से उठाकर फूट पड़ी—"तू यहाँ क्यों आया—अभागा ?···"

उठकर सुब्रह्मण्यम् फिर सुभामा के पैरों पर जा गिरा; और, टूटे स्वर में कहने लगा—"अम्मा ने जोर लगाकर भेज दिया !—दयामयी बहन, रामू की माँ नहीं रही···भगवान् के घर चली गई !···तुम लोग मुझ अधम पापी को क्षमा कर दो।··· लड़का घर में नहीं रहता था; हरदम 'रानी-अम्माँ, रानी-अम्माँ' रटता रहता था। इसी से रोकर अम्मा ने कहा—'ले जाओ इसे

वहाँ !'—इसीलिए लाज-शरम खोकर इसे ले आया हूँ, बहन !—अब ठुकराओ, या चरण में जगह दो !···"

सुभामा कुछ नहीं बोली। सिर्फ छल-छल आँसू बहाती और थर-थर काँपती हुई पति की ओर देखती रही ! जैसे पूछ रही हो—'अब क्या करोगे ?'

तब तक बच्चे को सम्हाले लक्ष्मी भी दालान में चली आई थी।

विह्वल-हृदय भारतीभूषण सुभामा के पास आए; और, सुब्रह्मण्यम् को छाती से लगा कर कहने लगे—"मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया, सुब्रह्मण्यम् !···तुम्हारी यह विह्वलता मुझसे देखी नहीं जाती !···उठो, जाकर अपनी लक्ष्मी से क्षमा माँगो। गुरुतर अपराध तुमने उसके साथ किया है !···सताया है उसे, लांछित किया है उसे—जाओ—माफी माँगो उससे।"

अपराधी सुब्रह्मण्यम् संज्ञा-शून्य मन से उठा; और, धीरे-धीरे लक्ष्मी की ओर चलने लगा :···और, लक्ष्मी के आगे जाकर पलकें झुकाए हाथ जोड़कर, खड़ा हो गया—"क्षमा करो दया-मयी"—दीनता से वह कहने लगा—"मैं भारी भ्रम में पड़ गया था, इसलिए मुझसे वैसा अक्षम्य अपराध हुआ !···अन्तर्यामी ही मेरा हृदय जानता है—एकदम लाचार बना दिया गया था ···और मूर्ख तो था ही···!"

लक्ष्मी अटल खड़ी, चुपचाप देखती रह गई—जैसे वह पत्थर बन गई हो !···उसके मुख की निष्पन्द शून्यता स्पष्ट बता

रही थी—कि उसमें चिन्ता और चेतना का कहीं कोई चिह्न नहीं रह गया था। लक्ष्मी को यों मौन और निश्चल देखकर भारती-भूषण ने, अश्रु-पूर्ण नयनों से देखते, करुण-कातर स्वर में कहा— "सज्ञान बेटी, इस नादान को क्षमा कर दो!"

सुनते ही शैलजा ने कठोर व्यंग्य किया—"क्योंकि ये आपके अपने हैं;—और, आप भी पुरुष है!"

भारतीभूषण हहरती हुई व्याकुलता से बोले—"नहीं, बेटी! ऐसा न कहो···यह मेरे हृदय की पुकार है!···जो दीन-हीन होकर क्षमा माँगने आया है, उसे कोई हृदयवान् कैसे दुत्कार दे—भले ही वह गुरुतर अपराधी क्यों न हो?···और, जानती हो, बेटी—जो जितना ही गुरुतर अपराध करता है, उसे क्षमा करने में भी, उतना ही गुरुतर गौरव प्राप्त होता है!"

शैलजा क्षुब्ध हो उठी, और, उसी कठोर मुद्रा में बोली— "लेकिन, पिताजी! यह अपराध इतना गुरुतर है—इतना अक्षम्य है, कि इसके लिए क्षमा का विधान हो ही नहीं सकता!"

भारतीभूषण एकदम तड़प उठे—"ऐसा मत कहो, शैलजा! क्षमा वह उमड़ा हुआ घन है—जो आँखें मूँदकर विशाल वसुधा पर अपना अक्षय-कोष खाली करता रहता है!"

लक्ष्मी पिता की बातें गौर से सुन रही थी। बहुत देर तक वह कुछ नही बोली। कभी पिता की ओर नजर उठाकर देख लेती थी, कभी माता की ओर, एवं कभी उस हाथ-जोड़े क्षमार्थी

पुरुष की ओर !···उसके हृदय में एक आँधी घुमड़ती जान पड़ती थी; और, वह माता-पिता के अश्रु-प्रवाह से विगलित हो रही थी। परन्तु उसका आत्म-सम्मान उसे कठोर होने का आदेश दे रहा था ! वह असमंजस में पड़ी जान पड़ती थी।··· इतने में उसकी दृष्टि शैलजा की कठोर मुद्रा पर जा पड़ी। जैसे वह कह रही हो—'सावधान, यही तुम्हारी परीक्षा का कठिन समय है !···'

सहसा माँ-बाप उसके नेत्र-पट से गायब हो गए; और, शुद्ध आत्म-सम्मान ललकारता उसके सामने अचल खड़ा रहा। विकलता भूलकर लक्ष्मी की मुख-मुद्रा कठोर से कठोर होती गई। फिर, धीरे-धीरे वह रूखे स्वर में, कहने लगी—"पिताजी, आपने अपना सब मान-अपमान भूलकर इन्हें क्षमा कर दिया है; यह आप के हृदय के औदार्य की पराकाष्ठा है। इससे आप का यश-सौरभ संसार में बढ़ेगा।" फिर वह सुभामा की ओर देखने लग गई—"माता भी इन्हें माफ कर सकती हैं; क्योंकि यह उनके सगे भाई हैं।···लेकिन पिताजी—" कहते-कहते उसके भव्य मुख-मण्डल पर काला बादल फैल गया और वह माथा नीचा करके कहने लगी—"लेकिन, मैं अपनी लांछना कैसे भूलूँ ?···क्योंकि मैं स्त्री हूँ, और, स्त्री का एक मात्र सर्वस्व होता है···उसका सतीत्व; —और जो व्यक्ति उस 'सतीत्व' की रक्षा का जिम्मेवार बनाया गया था, उसी ने जब निर्मम निष्ठुरता के साथ उस निरपराधिनी को 'असती' सिद्ध कर दिया; तब फिर, उस अभागिनी नारी के

लिए संसार में और क्या सम्बल रह जाता है?···पिताजी, वह जो अब तक जी रही है, क्या धूल-धूस में लोटती रहने वाली धौंकनी की तरह केवल जलनशील साँस नहीं लेती है? ···ऐसी हालत में आप मुझे क्षमा कर देने का निष्ठुर आदेश कैसे देते हैं, पिता जी?"···कहकर लक्ष्मी ने सिर ऊँचा किया; और, उसके मुख पर से कृष्ण घन की छाया हटने लगी···

"एक बार आँखें मूँदकर मैं आप की यह आज्ञा भी मान लेती; लेकिन, देखती हूँ, मेरी आत्मा—मेरा अन्तर्देवता अब एक-दम अवश हो चला है;···आप की आज्ञा के पालन में वह अपने को एकदम असमर्थ पाता है; और वह मुझे वेतरह फटकार रहा है—'जिसने तुझे लांछित करके अपनी बगल में दूसरी नारी को बिठा लिया था; अब फिर, तू उसका घर बसाने जाएगी?···"

उसका सिर झुक जाता है; और, कुछ क्षण चुप रहकर वह फिर कहने लगती है—"आप लोगो की आज्ञा से मैंने अपने जीवन के सारे मधुर स्वप्न मिटा दिए,—जीवन के सारे पुष्पित वरदान को, अपने हाथों मसलकर, फेंक दिया—ताकि आप दोनों खुश रहें!···लेकिन, देखती हूँ; आप लोगों के इस आखिरी आज्ञा-पालन मे मैं एकदम अक्षम हो गई हूँ!···आप पिता-माता हैं, मेरे शरीर को आप लोगो ने ही धरती पर खड़ा किया है। आप लोगों की आज्ञा मानना मेरा परम पवित्र कर्त्तव्य है।·· लेकिन मैं निरपराध लांछिता बना दी गई हूँ; अतः क्षमा करने को मेरी—नारी की—आत्मा अब कदापि तैयार नहीं

है।···आप लोगों के ये अपने हैं,—और हैं पुरुष! बड़े छोह-मोह से आप-लोगों ने इन्हें पाला-पोसा है। आप अपने सारे मान-अपमान को भूलकर इन्हें माफ कर सकते हैं; लेकिन मैं—एक आत्मवान् नारी—किस निर्लज्जता से मैं इनका मुँह देख सकती हूँ?·· सहन करने की भी एक सीमा होती है न, पिताजी। मेरी यातना, मेरी वेदना उस सीमा को पार कर गई है।···इन्हें क्षमा करने का अर्थ होगा—इनके घर को फिर से आबाद करना। और—यह मुझसे अब सौ जन्म में भी संभव नहीं हो सकता, पिताजी!···आप चाहें, तो मैं अपना कलेजा काटकर आपके चरणों में रख दूँगी,—लेकिन इस निर्मम आज्ञा का पालन नहीं कर सकूँगी।···आप लोग मेरी इस बे-अदबी को उदारता-पूर्वक माफ कर दें। मैं कल ही आप लोगों का यह घर छोड़कर 'आश्रम' में चली जाऊँगी।···आप लोग इनके साथ सकुशल रहें। मैं आप लोगों की सदिच्छाओं में बाधक नहीं बनूँगी!···"

भारतीभूषण के मुख पर सघन स्याही फैल गई; और, रामू को आगे बढ़ा कर वह कातर-कण्ठ से कहने लगे—"और यह दिव्य बालक—जो तुम्हारी रट लगाए यहाँ तक आया है, जो अपनी माता की याद भूलकर तुम्हारे नाम की माला जपता तुम्हें ढूँढ़ता हुआ, मन्त्र-मुग्ध-सा यहाँ तक आ गया है; और, निरुपम निर्भरता से तुम्हारी गोद में बैठ गया है—इस दिव्य-शिशु को क्या तुम निर्मम होकर अपनी गोद से उतार फेंकोगी, बेटी?···"

बीच में ही रामू चिल्ला उठा है—"नईं, मैं लानी-अम्मा की गोद छे नईं उतलूँगा !"

यहाँ,—नीचे आधी लेटी हरी-भरी धरती, ऊँचे से उतर आता आभामय आकाश, कहीं पास ही सहमी सोई हवा—सारी प्रकृति ही—मानो उद्ग्रीव और उत्कर्ण होकर कोई महान् वाक्य, कोई महान् निर्णय, कोई महान् सन्देश सुननेको सावधान हो गई थी !

लक्ष्मी ममता से रामू को छाती से चिपका कर बोली : "हाँ, इस बालक की 'माँ' मैं अवश्य बन जाऊँगी···लेकिन, किसी की 'पत्नी' अब नहीं हो सकती !···पत्नी होने का मेरा अधिकार छीन लिया गया है।···अब यह क्षमा-याचना एक दूसरा नाटक खड़ा करती है—जिसका प्रधान सूत्र है आप लोगों का—पुरुषों का—अटल स्वार्थ !···मुझे लांछित करके जिसे अपनी बगल में बिठा लिया गया था, वह स्वर्ग सिधार गई है; तब, फिर मेरी खोज शुरू हुई है; और, उसकी परिणति है यह क्षमा-याचना !!···पिताजी, इस नाटक के लिए मैं तैयार नहीं हूँ—सौ जन्म में भी अब मैं वह 'पार्ट' नहीं खेलूँगी।"

कहकर, रामू का हाथ पकड़े, उखड़ी साँस, भरे चेहरे एवं कम्पित वक्ष से वह घूम गई; और, धीरे-धीरे चल कर अपने कमरे में बन्द हो गई !···

माँ-बाप जमीन मे गड़-से गए। वे सिर्फ विस्फारित नेत्रों से लक्ष्मी के पद-चिह्नों की ओर देखते रह गए। उनकी आँखों की

पुतली, और, उनकी गौरव-गरिमा 'लक्ष्मी', इस तरह उनकी आज्ञा का तिरस्कार कर देगी, उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। वे जर्जर जीव धरती में धँसे चले जा रहे थे!···

लेकिन शैलजा पुलकित होती लक्ष्मी के कमरे में आई; और, वहन से लिपट कर वोली—"वहन, मेरी देवी वहन! तुमने आज मेरा ही नहीं, समस्त नारी-जाति का मस्तक ऊँचा कर दिया!···आज मेरी सारी जलन और कुण्ठा, जाने कहाँ, छू-मन्तर हो गई! तुम्हारा यह तेज, तुम्हारा यह क्षोभ, यह ममत्व और तुम्हारा यह विवेक देखकर यह सारा विश्व संभ्रम सहम गया है!···यह है भारतीय नारी का सच्चा स्वरूप—'वज्रादपि कठोरानि मृदूनि कुसुमादपि!'···"

लक्ष्मी गम्भीर मौन से सुनती रह गई—जैसे कथन को तौल रही हो।

शैलजा वाहर आकर पिता से कहने लगी—"आप संकुचित क्यों होते जाते हैं, पिताजी? यह तो आप के गर्वोल्लास का पुण्य क्षण है?···ऐसी गरिमामयी सन्तान को जन्म देकर आप सचमुच धन्य हो गए!"

उधर रामू लक्ष्मी की छाती से चिपक कर कहने लगा—"मैं तुमाले छाथ ही छोऊँगा, लानी-अम्मा?"

इधर यह सव देख-सुनकर सुब्रह्मण्यम्, थकित चित्त और अवरुद्ध कण्ठ से आँसू पोंछते उठ खड़ा हुआ; और, कुछ सुस्थिर

होता बोला—"मुझे अब क्षमा माँगने की जरूरत नहीं रही ?···मैं अपने अपराध की गुरुता खूब समझता हूँ। मुझे जिन्दगी भर अनुताप की आग में जलना है। जलूँगा और खुशी से जलूँगा !···मुझे इस अनाथ बच्चे की ही चिन्ता थी; वह अब ममतामयी माता की गोद मे पहुँच गया है। मुझे अब कोई चिन्ता नहीं। मैं अब आप लोगों से सहर्ष विदा लेता हूँ—जाकर अपनी अंधी दुनिया में अब लीन हो जाऊँगा!"

उधर, लक्ष्मी की गोद में खुश बैठा रामू एकाएक छटपटाने लगा—"मैं बाबूदी के पाछ दाऊँगा !···छोल दो···उताल दो मुधे···"

इधर सुब्रह्मण्यम् आगे बढ़ा; और, बहन-बहनोई के चरण छूकर, इधर-उधर नजर डाले बिना ही, तेजी के साथ सीढ़ी से उतर गया।

उधर रामू बरामदे पर आकर चिल्लाने लगा—"तलो—तलो बाबूदी—मैं बी तलूँगा···मैं बी तलूँगा···बाबूदी···"

रामू के पीछे-पीछे लक्ष्मी दौड़ी आई, और, झपट कर उसने उसे गोद में उठा लिया। रामू रोने और हाथ-पाँव फेंकने लगा।

सुभामा ने आँसू पोंछकर अर्धस्फुट स्वर मे कहा—"बिना खाए ही चला जा रहा है अभागा···हमारे घर से !"

यह सुनते ही भारतीभूषण—"सुब्रह्मण्यम् !···ओ सुब्रह्मण्यम् !"—पुकारते हुए गेट के बाहर हो गए।

रामू भी लक्ष्मी की गोद से छटपटाकर उतर पड़ा; और,

चिल्लाता दौड़ा—"बाबूदी !···मैं बी आता ऊँ ।···तअलो—तअलो !"···

लक्ष्मी ने पुनः लपककर भागते हुए बच्चे को गोद में उठा लिया; और, उसे अपनी छाती में कसे, खिलौने-घर में ले जाकर हाथी, घोड़े, मोटर, सिपाहियों से घेरकर, पल भर में, उसे चुप कर दिया।··· बच्चा घोड़े पर चढ़कर, उसके दोनों खड़े कान पकड़े, झूलते-झुलाते गाने लगा—"तल मेले गोले—तल-तल-तल !"···

लक्ष्मी इस बाल-लीला को देखकर जाने किस रहस्य-लोक में जा पहुँची !···

रात के ग्यारह बजे—

भारतीभूषण स्टेशन से, जाने किस तरह, सुब्रह्मण्यम् को पकड़ लाए। सुभामा ने धर-पकड़कर उसे कुछ खिला दिया। खा-पीकर वह चुपचाप भारतीभूषण के पास, दालान में सो गया।

लक्ष्मी और शैलजा अंदर के कमरे में सोई थीं। और रामू अपनी 'लानी-अम्मा' के साथ गाढ़ी नींद में जाने किस लोक का भ्रमण कर रहा था। गुलाब-सा खिला रामू स्वप्नावस्था में कभी-कभी दोनों हाथ फैला चौंक उठता—"लानी-अम्माँ, कआँ ओ ?" और लक्ष्मी बड़ी व्याकुलता के साथ, अपनी उमड़ती छाती से, उसे बार-बार सटा लेती थी; और, वह नादान बच्चा, अपनी छोटी-छोटी मृदुल बाहें फैलाकर, लक्ष्मी के उदार क्रोड

में, निर्भर विश्वास के साथ, चिपक जाता था !···

लक्ष्मी का, एक युग से, व्यर्थ धड़कता आता हृदय, उस विमल बच्चे के कोमलांगों से सुस्पृष्ट होकर, मातृत्व की चरम उपलब्धि के साथ, अतल आनन्दाब्धि में डूब गया। उसके जीवन का सारा अभाव, सारी लांछना, सारी यंत्रणा, जाने कहाँ छू-मंतर हो गई। पुलकित और कृतार्थ होती वह अपने अस्तित्व को ही भूल बैठी। उसके अन्तर का सारा क्षोभ, इस एक शुभ क्षण में, जाने कहाँ विलुप्त हो गया !

···रामू के पिता के प्रति भी वह सहज भाव से उदार हो रही। आखिर यह पूर्णता—यह अनुपम आनंदानुभूति—तो उसी अपराधी पुरुष के कारण उसे प्राप्त हुई थी ! अब किसी के प्रति जैसे कोई कटुता उसके मन में नहीं रह गई। बस, अब एक ही आकांक्षा उसे चारों ओर से घेरे जान पड़ती थी—इसी तरह, उस बच्चे को छाती से लगाए, वह अनन्त काल तक, विस्मृति की गोद में पड़ी रहे !!

बाहर सर्वत्र स्निग्ध चाँदनी छिटक रही थी। चन्द्रमा नीले आकाश में चुपचाप हँस रहा था। आम के पत्तों से छन-छनकर उसकी उमंग-भरी इठलाती ज्योत्स्नाएँ, खिड़की की राह, लक्ष्मी की सौभाग्य-शय्या पर आकर थिरकने और आँख-मिचौनी खेलने लगीं। पुलकित गंधवह पवन गुपचुप आ-आकर दोनों को

सुखद गति से सहलाने लग गया था।

उसी समय मन्दार की झुरमुट से निकल कर पपीहा बोल उठा—"पी कहाँ ?"…

सन्नाटे को चीरती हुई वह ध्वनि, समीर-लहरी पर चढ़ कर दूर देश तक चली गई। फिर तरु-कोटर से एक दूसरी ध्वनि निकली—"लक्ष्मी, तुम्हारा अभिशप्त जीवन भी मातृत्व की ऐसी सुखद अनुभूति प्राप्त करेगा, सोचा नहीं था। धन्य, आज सचमुच, तुम धन्य हो गई !"

रजनी-गंधा की मादक-सुरभि शयनागार में प्रवेश कर उमड़ी पड़ रही थी। उसी समय करवट बदल कर बेहोश लक्ष्मी ने बच्चे के ऊपर अपनी सुकोमल बाहु-वल्लरी फैला दी। बच्चा आकुल होकर बोला—"बाबूदी कआँ अँय, लानी अम्माँ ?"

तन्द्रिल लक्ष्मी ने बच्चे को चूम-पुचकार कर कहा—"तुम्हारे बाबूदी दालान में सोए हुए हैं—आओ, तुम भी सो जाओ, बाबू !"

सुकोमल हाथ फैलाए बेसुध रामू लक्ष्मी के उमड़ते-धड़कते अंचल में छिप गया।…आवेग-आकुल होकर लक्ष्मी ने उसे अपने उन्नत उरोजों में ऐसा कस लिया, कि वह नन्हा शिशु एकमेक होता एक प्राण, एक रस एवं एक तत्त्व में परिणत हो गया : जैसे—तनु-केशी लक्ष्मी के कोमल प्राणों की दीर्घ धड़कन, धीरे-धीरे, बन्द हो गई—केवल उस अस्तित्व-शून्य शिशु का

मंजुल हृदय, मंद-मंद, धड़कता रहा, जैसे—लक्ष्मी की चिर-उच्छ्वसित साँसें सहसा संसक्त हो गई—केवल उसके वक्ष में विलीन उस वेसुध बच्चे की सूक्ष्म सुरभित साँस चलती रही, जैसे—उस तन्वी के तन में अब सिर्फ तनिमा ही शेष रह गई थी—जो उस बालक के लघु-रूप में, पलंग पर, पुलक-प्रकम्पित हो रही थी।...

उसी समय शिरीष की डाल पर से एक भूरे रंग वाला मर्मज्ञ महोखा गंभीरता से बोल उठा :

'डुप्-डुप्-डुप्...!!'

सहसा समस्त सचराचर, निश्चिन्त होकर, सचमुच उस चन्द्रिका-स्नात रस-सागर में गोता लगाता, विश्रब्ध विश्राम में डूब गया !

इत्यलम्

कतिपय अभिमत

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन :

"'पुनर्मिलन' मुझे बहुत पसन्द पड़ा।"

आचार्य डा० शिवपूजन सहाय—पटना :

"···भाषा प्राञ्जल और कथा-साहित्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। शैली बहुत सुहावनी तथा मनोज्ञ है।···हिन्दी-पाठकों को यह अपने ढंग का बिलकुल अकेला उपन्यास प्रतीत होगा।"

प्रो० श्री वीरेन्द्र श्रीवास्तव, एम० ए० अध्यक्ष—स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, बिहार :

"श्री रामानन्द शर्मा चिरकाल तक दक्षिण भारत में हिन्दी-सेवा में निरत रहे हैं, और इस अवधि में दक्षिण की संस्कृति, प्रथा और परम्परा का गम्भीर अध्ययन करते रहे हैं। उन्होंने वहाँ के घरेलू जीवन में पैठकर उसकी अनुभूति प्राप्त की है। इस सबका रमणीय समावेश उनके 'पुनर्मिलन' उपन्यास में अनायास दृष्टिगोचर होता है। देश और काल से अपरिच्छिन्न मानव की प्रवृत्तियाँ भी इसमें भली-भाँति अनुस्यूत हैं।

कोई शिक्षित नारी, अपने कलेजे पर पत्थर रखकर, अपनी माता की प्रसन्नता के लिए किस प्रकार अपने अशिक्षित पति के प्रति आत्म-समर्पण कर सकती है; उसकी पूजा की देवता बनाकर भी मानव-ईर्ष्या की कशा से प्रताड़ित हो सकती है; लोकसेवा में संलग्न रहते हुए आत्म-सम्मान को सुरक्षित रख सकती है; और, अन्त में हृदय में उमड़ती मातृत्व-भावना का प्रसार कर उसे तृप्त कर सकती है—इनका रस-स्निग्ध भाषा में चित्रण 'पुनर्मिलन' में देखते ही बन पड़ता है। समाज में नारी-जीवन और

उसकी समस्या पर प्रकाश डालने मे यह उपन्यास सर्वथा समर्थ है।···"

प्रो० डा० माहेश्वरी सिंह महेश, एम० ए०, पी-एच० डी० (लन्दन)

स्नातकोत्तर विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, बिहार :

मुझे किताब अच्छी लगी—इसलिए नही कि इसमे कोई बडी बात है—कोई बडी कल्पना है और यह आकाश पर से लिखी गई है : प्रत्युत इसमे एक छोटी बात है—एक लघु यथार्थ है और यह धरती पर लिखी गई है। समाज का जो चित्र इसमे वर्णित है, मुमकिन है, अन्यत्र मिले। किन्तु जितना यथार्थ, जितना स्पष्ट और जितना सत्य यहाँ है, अन्यत्र कम ही मिलेगा। वास्तव मे शर्माजी इस उपन्यास के द्वारा लेखको की पहली पंक्ति मे आ जाते है।

किताब मुझे बहुत अच्छी लगी—इसके भी कारण हैं। 'भाव अनूठो चाहिए, भाषा कोऊ होय'—यह मै सुनता हूँ—जानता हूँ; किन्तु मानता नही। मैं तो साहित्य मे—रचना मे भाषा को ही मुख्यता देता हूँ। इस किताब की भाषा बड़ी प्राजल, बड़ी मोहक और बड़ी आकर्षक है। साहित्य का सौन्दर्य चित्र मे, कविता का आश्रय भाषा है, यथार्थ मे भाषा असली है। इस किताब मे भाषा के चलते कविता का आनन्द आता है।

प्रो० जयदेव मिश्र, एम० ए०, पुस्तकालय-अधीक्षक, पटना :

"···'पुनर्मिलन' मै पढ़ गया हूँ।···मै समझता हूँ पुस्तक की उपादेयता इस लिए और बढ़ गई है, कि हिन्दी-पाठको को दाक्षिणात्य जीवन का सरस एवं कलात्मक अध्ययन पढने को कम ही मिलता है। श्री शर्माजी से हमारा निवेदन है कि ऐसी पुस्तके और लिखकर हिन्दी-पाठको

के सम्मुख उपस्थित करें, ताकि उनकी कलात्मक कृतियों से तो हम लाभान्वित हों ही, साथ ही दक्षिणी जीवन की बारीकियाँ समझ कर उसके प्रति हम और आकर्षित हों।"

श्रीमती त्या० भवानी देवी, बी० ए०, 'साहित्य-रत्न', संचालिका, नालन्दा हिन्दी विद्यालय—मद्रास :

"लीला-लोल नयनाभिराम नर-नारी का, दीर्घ साहचर्य से समुद्भूत, यौवनोर्मिल आकर्षण कितना जबरदस्त होता है; उसका मोह कैसा निविड़ और उसका आचरण कैसा उद्दाम एवं उच्छृंखल बन जाता है; कल्पना-लोक में बने, और व्यावहारिक जगत् में बिगड़े जीवन एवं यौवन की टीस और उसकी जलन कैसी तीक्ष्ण तथा दाहक हो जाती है; तथा हमारे सनातन-समाज में अनमेल ब्याह कैसी विषम समस्याएँ खड़ी कर देता है—उसके चलते हमारा सुख-सुहाग कैसा दुर्वह हो जाता है; और, उत्कट प्रेम की दमित-शमित ऊष्मा कितनी सुखावह, कितनी सृजनात्मक, कितनी संतोष-प्रदायिनी बन जाती है; साथ ही सुशिक्षिता एवं धर्म-प्राणा नारी का आत्म-गौरव, कुल-मर्यादा एवं उसका कर्तव्य-बोध कैसा अनोखा, उसकी दर्प-दीप्त आत्मा का तेज कैसा प्रचण्ड एवं उसके अन्तस्तल में सोई मातृत्व की मृदुल बुभुक्षा कितनी हृदय-हारिणी होती है; और मनन-शील मानव का संकल्प-शुद्ध सत्प्रयत्न और विमल विचारों से अनुप्राणित उसके अमल आचरण हमारे फिसलते पाँव एवं शिथिल-श्लथ मन को कैसा मजबूत बना देते हैं—आदि दहकती गुत्थियों की यथार्थ तसवीर देखनी हो, तो आइए—हम श्री रामानन्द शर्मा का 'पुनर्मिलन' उठा लें।"'उत्तर-दक्षिण की बात ही क्या—आसेतु

वसुन्धरा की माँ-बहने और बहू-बेटियाँ ही नही, हमारे मदहोश युवक भाई और रूढिग्रस्त पितृ-पितृव्य भी सजल नयनो से 'पुनर्मिलन' की पुण्य-कीर्ति कहानी पढेगे; और श्रद्धा-सिक्त हृदय से उसके महत्प्राण लेखक को चिर-काल तक असीसते रह जाएँगे।"

श्री एस० आर० शास्त्री, एम० ए०, प्रधान मंत्री, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास :

"...'पुनर्मिलन' को आद्योपान्त एक बार, दो बार, तीन बार पढा। फिर-फिर पढने की इच्छा होती है। यह पुस्तक उत्तर-दक्षिण का गंगा-कावेरी सगम है। भाषा टकसाली है : लेखक की लेखनी मे जादू है। 'पुनर्मिलन' हिन्दी की उच्च परीक्षाओ मे नियत करने योग्य है। दक्षिण की संस्कृति के आधार पर हिन्दी मे रचना करनेवालो के लिए यह मार्ग-दर्शिका है। हम लेखक की अनोखी प्रतिभा पर मुग्ध हैं।"

श्री ए० सी० कामाक्षिराव, एम० ए०,

लेक्चरर इन हिन्दी, क्रिश्चियन कालेज, ताम्बरम, मद्रास :

"...शर्माजी ने 'पुनर्मिलन' के द्वारा हिन्दी के साहित्य मन्दिर को तो आलोकित किया ही है, दक्षिण की भी अनुकरणीय सेवा की है। आशा है, हिन्दी के पाठक इसमे दक्षिण के लोक-जीवन का साक्षात्कार करेंगे; और, उत्तर-दक्षिण की सस्कृति को मिलानेवाली कडियाँ पहचानेगे। 'पुनर्मिलन' की भाषा तथा शैली 'प्रसाद' की याद दिलाती है। मनोरंजन और मनन—दोनो दृष्टियो से 'पुनर्मिलन' एक रुचिर रचना है।..."

श्री वा० राममूर्ति 'रेणु', एम० ए०, हैदराबाद रेडियो, आन्ध्र प्रदेश :

" आपकी लेखनी के बारे मे जितना कहा जाए, अपर्याप्त होगा।

कलम के जादूगर जो ठहरे आप। तेलुगु समाज का जीवन्त एवं स्पन्दन-शील चित्र ही 'पुनर्मिलन' है। "

सी० एन० शर्मा, एम० ए०,—एम० एम०, जहानाबाद कालेज, गया :

"मालूम होता है, शर्मा जी ने विश्व-जीवन के व्यापक संगीत के कतिपय सुरों को शब्दों में बाँध रखा है। इस उपन्यास में लक्ष्मी का कल्मष-विहीन रूप, उसका अद्भुत आत्म-दान अपना मार्ग स्वयं बनाता आगे बढ़ता है। युवक-युवतियों के लिए 'पुनर्मिलन' विशेष रूप से पठनीय है : क्योंकि वह उन्हें आदर्श की ऊँची भूमिका पर जीवन के स्वस्थ निर्माण की प्रेरणा देता है।"

श्री जेठालाल जोशी, प्र० मंत्री, हि० प्र० सभा, गुजरात :

"...मुहावरों के समुचित प्रयोग ने भाषा को तेजस्वी बना दिया है। पुस्तक की हर पंक्ति मे कविता का आनन्द आता है। प्राकृतिक सौन्दर्य का शब्द-चित्र हृदय को मुग्ध कर देता है। सारा उपन्यास जीवन-दर्शन का सुन्दर संग्रह है। भाषा, और जीवन की मार्मिक व्याख्या, के कारण 'पुनर्मिलन' अत्यन्त रस-प्रद हो गया है।"...

प्रो० अनन्त गोपाल शेवडे, एम० ए०—नागपुर :

"...सुब्रह्मण्यम् की हीन-भावना का आपने इतना सजीव वर्णन किया है, कि पाठकों के हृदय मे उसके लिए भी घोर सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है।"...

स्व० डॉक्टर अनुग्रहनारायण सिंह,—वित्त-मन्त्री, बिहार :

"...'पुनर्मिलन' मुझे इतना रोचक मालूम हुआ कि प्रारम्भ करने पर समाप्त करके ही छोड़ने की इच्छा हुई। पुस्तक रोचक होने के अलावा शिक्षा-प्रद है।...ऐसे योग्य साहित्यिक का मैं अभिनन्दन करता हूँ।"

आचार्य बदरीनाथ वर्मा,—भू० पू० शिक्षा-मन्त्री, बिहार :

"…माल्म होता है, शर्माजी ने दक्षिण की आत्मा को ही उपस्थित कर दिया है।…'पुनर्मिलन' हिन्दी-साहित्य को एक देन है…जो सर्वथा अनूठी और विलक्षण भी है।"

प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव, एम० ए०—छपरा कालेज, बिहार :

"…शर्माजी इतना ललित प्रवाह-पूर्ण गद्य लिखते है कि भाषा मे रस आ जाता है।"…

प्रो० आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री,—एम० ए०, मुजफ्फरपुर, बिहार :

" 'पुनर्मिलन' अपने ढग का अकेला उपन्यास है जो उत्तर-दक्षिण के चिर-विच्छिन्न अन्तर्मन का पुनर्मिलन प्रस्तुत करता है। भाषा की प्राजलता और प्रौढि, शैली का मनोरंजक और चमत्कारोत्पादक प्रभाव, दक्षिण के सास्कृतिक वातावरण की सजीवता, रस्म-रिवाजों का सूक्ष्म निरीक्षण—आदि अनेक तत्त्व इस उपन्यास को प्रथम श्रेणी की रचना सिद्ध करते हैं।

डा० डी० वी० शास्त्री,—भू० पू० लोक-शिक्षा निदेशक, बिहार :

उपन्यास इस ओर भी सकेत करता है, कि हम हर प्रान्त की आत्मा को साहित्य मे उतारकर ही राष्ट्रभाषा हिन्दी को सपन्न कर सकते हैं।…"

श्री व्योहार राजेन्द्र सिंह,—जबलपुर, मध्यप्रदेश :

"…'पुनर्मिलन' लिखकर शर्माजी ने मातृ-भाषा की अमूल्य सेवा सेवा की है।…नारी-हृदय के चित्रण मे लेखक अत्यन्त सफल हुआ है।…"

पं० छविनाथ पाण्डेय,—पटना, बिहार :

"...नारी की मर्यादा का ऐसा ज्वलन्त दिग्दर्शन कराकर लेखक ने भारतीय परम्परा का श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।...भाषा पर लेखक का पूर्ण अधिकार है।..."

श्री गंगाशरण सिंह, एम० पी०—नई दिल्ली :

"...मेरी हार्दिक कामना है कि इस पुस्तक का अधिक-से-अधिक प्रचार हो।..."

श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', एम० ए०—पूर्णियाँ कालेज, विहार :

"...आपका 'पुनर्मिलन' एक मार्मिक उपन्यास है। इसके कथानक मे सरसता, तथा इसकी भाषा-शैली मे स्वच्छता एवं गतिशीलता है। मेरे परिवार के प्रायः सभी छोटे-बड़े सदस्य इसको पढ़ चुके हैं। सभी एक प्रश्न का उत्तर चाहते हैं—सभी मे मैं भी सम्मिलित हूँ। 'सुब्रह्मण्यम्' जब लक्ष्मी के 'मामा' होते है, तब दोनों में विवाह कैसे हो गया ? क्या दक्षिण भारत मे ऐसा हुआ करता है ?..."

साहित्याचार्य सीताराम चतुर्वेदी, एम० ए०, काशी :

"...इस उपन्यास का अन्त आपने जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से मातृ-भावना को उद्वेलित करके उपस्थित किया है, वह मुझे अत्यन्त सुन्दर जँचा। इस सुन्दर कृति के लिए मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ और मंगल-कामना करता हूँ कि आपका साहित्य-यज्ञ निरन्तर वर्धमान होता रहे।..."

'कल्की'—मद्रास :

"...इस उपन्यास को पढ़नेवाले भारतवासियों के दिल मे यह विचार अवश्य सर्वोपरि रहेगा, कि हम सब एक राष्ट्र के है, एक जाति के हैं, एक कुल के हैं।"

आचार्य रामशरण उपाध्याय, एम० ए०, विहार :

"...पुस्तकालयों तथा विद्यालयों मे 'पुनर्मिलन' की प्रतियाँ अवश्य रहनी चाहिए।"

श्री प्रफुल्लचन्द्र पट्टनायक, विहार :

"...मूर्तिकार ने कृष्णा और कावेरी की मृत्तिका ली, उसे गंगा और जमुना के जल से भिगोया; प्रेमचन्द का आदर्श और रवीन्द्र की नारी का रहस्य लिया तथा यशोधरा की थोड़ी-सी गरिमा उसमे सानकर एक मूर्ति का निर्माण किया। उसे फिर 'हृदयेश' की तूलिका से चित्रित किया और चुन-चुन कर दक्षिणी साडी और अलंकारों से उसे सजाया। इस तरह जब वह मूर्ति पूरी हुई, तब उसे एक साथ उत्तर से दक्षिण तक की नर-नारियो ने 'लक्ष्मी' के रूप मे पहचाना।...

'पुनर्मिलन' लेखक की टेढ़ी-मेढ़ी वह पगडंडी है, जो प्रारम्भ मे एक धुँधली रेखा की तरह नजर आती हुई आगे इतनी साफ हो गई है, कि दूर से ही राही-बटोहियो को मौन निमन्त्रण देती हुई कह रही है— 'आओ, इस राह से चल कर फिर तुम भटकोगे नही।...'"

'मानस की महिलाएँ'

लेखक : श्री रामानन्द शर्मा

भूमिका-लेखक :

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद, राष्ट्रपति-भवन—नई दिल्ली :

"...ग्रन्थ की भाषा और शैली, दोनो ही प्राजल और प्रसाद पूर्ण है। पुस्तक की एक विशेषता यह है कि वह रचनात्मक साहित्य का आनन्द देती है।" (ग्रन्थ की भूमिका से)

श्री बाबू सत्यनारायण सिंह, मंत्री, संसद-कार्य, नई दिल्ली :

"...आपका ग्रन्थ 'मानस की महिलाएँ' मेरे टेबुल पर पड़ा रहता है और जब मुझे थोड़ा-सा अवकाश मिलता है, कुछ-न-कुछ उसका हिस्सा पढ़कर आनन्द-विभोर हो जाता हूँ। 'रामचरित मानस' का आपका इतना सूक्ष्म और गहरा अध्ययन जानकर आपके पड़ोसी के नाते मुझे बहुत गर्व होता है। 'मानस' की इतनी अच्छी आलोचना मैंने नहीं पढ़ी थी। इससे अधिक मैं और क्या कहूँ।"

राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त, एम० पी०—नई दिल्ली :

"पुस्तक मुझे अच्छी लगी—आपकी कृति सुन्दर है।"

प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, एम० ए०, पटना :

"...मैं तो इसे पढ़कर मुग्ध हो गया। आपमें मनन-शीलता के साथ-साथ इतनी सहृदयता एवं रसज्ञता है, यह जानकर मैं सचमुच आपका एक गुण-मुग्ध पाठक बन गया हूँ। इस पुस्तक को पढ़ते समय मैं तल्लीन एवं रस-मग्न हो गया था। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए। मुझे विश्वास है, यह पुस्तक सुधी पाठकों द्वारा यथेष्ट समादृत होगी।"

श्री ए० सी० कामाक्षि राव, एम० ए०, ताबरम, मद्रास :

"...'मानस की महिलाएँ' श्री रामानन्द शर्मा की कीर्ति-पताका है।...अनुशीलन का ऐसा प्रयास, व्याख्यात्मक आलोचना का ऐसा ऊर्मिल उदाहरण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद, बहुत कम देखने को मिला है।...इस महायज्ञ के अनुष्ठान मे लेखक ने अपने दीर्घकालीन अनुभव को होम दिया है।..."

श्रीमती त्या० भवानी देवी, बी० ए०, साहित्य-रत्न, मद्रास :

"मै 'मानसकी महिलाएँ' मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नया रूप देख रही हूँ।"

प्रो० डाक्टर माहेश्वरी सिंह महेश, एम० ए०, पी० एच० डी० :

"यह किताब पढने की है—मात्र पढ़ने की नही—फिर-फिर पढ़ने की है।···मै इसे पढ रहा हूँ और चाहता हूँ इसे पढ़ता ही रहूँ। किताब बड़ी अच्छी लगती है।···"

आचार्य रामशरण उपाध्याय, एम० ए०, बिहार :

" 'मानस की महिलाएँ' आपकी महान् कृति के रूप मे रहेगी। इस गद्य-काव्य मे आपका सम्पूर्ण व्यक्तित्व निखर आया है। ग्रन्थ न केवल आपके दीर्घ अध्ययन और साहित्यानुशीलन का परिचायक है, बल्कि उसमें ऐसा भी स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि आपने ४२ वर्षों के प्रवास और प्रयास मे भारतीय समाज के विभिन्न अंगो का व्यापकता और गहराई के साथ अवलोकन, निरीक्षण तथा विवेकपूर्ण परीक्षण किया है। ग्रन्थ सचमुच मे ही उच्चकोटि का हुआ है।···पुस्तक विश्वविद्यालयों के उच्चतम स्तरों के अभ्यास-क्रमो में स्थान पाने के योग्य है। अबके किसी भी सम्माननीय पुस्तकालयो मे तो इसे प्रमुख स्थान मिलना ही चाहिए।"

आचार्य प० जयरामन, एम० ए०, मद्रास :

" 'मानस की महिलाएँ' का अध्ययन एवं अनुशीलन किया। उस काव्यालोचन मे मैने सारे जीवन के सत्य की सरस अभिव्यक्ति को पाया। आपकी अपार प्रतिभा, विद्वत्ता, आलोचन-पटुता, विवेचन-क्षमता इत्यादि देखकर मै सोचता हूँ, काश, आपका काफी समय तक विद्यार्थी रहकर साहित्यिक साधना करने का सुअवसर प्राप्त करता।···"

प्रिंसिपल सी० एन० शर्मा, एम० ए०, जहानाबाद—बिहार :

" 'मानस की महिलाएँ' बेहद अच्छी है; आपकी आत्मा उसमे अभिव्यक्त है।"

प्रो० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, एम० ए०, भागलपुर, बिहार :

"दक्षिण भारत मे हिन्दी प्रचार के अग्रणी श्री रामानन्द शर्मा की अपूर्व कृति 'मानस की महिलाएँ' रामचरित मानस के नारी-पात्रो के

अविकल अध्ययन के लिए हिन्दी साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। शर्माजी ने वाल्मीकि, तुलसीदास और कंबन कवि की यथास्थान तुलना प्रस्तुत करके इस ग्रन्थ को और अधिक उपादेय बना दिया है—तीनों कवियों की रस-प्रवणता और विदग्धता का आनन्द सर्वसुलभ कर दिया है। उन्होने 'मानस' से सचित अपनी भक्ति-भावना के प्रसून सती, सीता और कौसल्या जैसे सत्पात्रो के चरणों मे समर्पित तो किए ही है, परन्तु एक सद्विवेचक और आलोचक की प्रतिभा के प्रसाद से पाठको को वंचित भी नही रहने दिया है। सतीत्व की सुदीप्त शिखा सीता का चित्रण करते हुए शर्माजी तुलसीदास की 'माया सीता' की कल्पना पर खीझ उठते हैं और ठीक ही कहते हैं—'कवि ने निश्चय ही यहाँ कलात्मक अभिरुचि के साथ घोर अन्याय कर दिया, जिसके लिए उसके रस-प्राण पाठक कभी क्षमा नही करेंगे।' अग्नि-परीक्षा के समय राम ने सीता की जो भर्त्सना की है तदर्थ वाल्मीकि पर उनका आक्रोश हृदयंगम है।

मानव को मानवता के पालने मे झुलाने वाली नारी ही है। इसे शर्माजी ने भलीभाँति आत्मसात् किया है और अपनी प्रेषणीयता की क्षमता से पाठक के हृदय मे उसे अंकित कर दिया है।

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'—मनु की इस सूनृत सूक्ति का निदर्शन 'मानस की महिलाएँ' है।

नारी-जागरण के इस युग मे नारी के शील को अकुण्ठित बनाए रखने की प्रेरणा इस ग्रन्थ से सतत प्राप्त होती रहेगी।

श्री रामानन्द शर्मा की अन्य प्रकाशित पुस्तकें :

तोरण के पर्ण

इसमे लेखक के जीवन-जयी, शुचिता-स्नात, स्वस्थ भावो का नवल निबन्धन मार्मिक शैली मे हुआ है। शब्द के जौहरी इसके 'शब्दों की सजीव चित्रमयता' देखकर फड़क उठेंगे, हिन्दी के अनुरागी इसके 'राष्ट्र